सिद्ध योग

संस्थापक :
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 42 / अंक : 8
नवम्बर 2009

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत कण

चला लक्ष्मीश्चला: प्राणाश्चलं जीवित यौवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चल:।।

(चाणक्यनीति दर्पण)

अर्थात् इस चराचर जगत में लक्ष्मी (धन सम्पदा), प्राण यौवन और जीवन (आयु) – सब चलायमान और नश्वर हैं, केवल एक धर्म ही निश्चल और शाश्वत् है। जो सदा साथ रहता है और मृत्यु के बाद भी साथ जाता है। अत: सुख प्राप्ति के लिए हमें धर्म का आचरण करना चाहिये। पापाचरण कदापि नहीं।

◆ ◆ ◆

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

(कठोपनिषद् 2/2/9)

अर्थात् जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूपवाला सा हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

◆ ◆ ◆

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वारम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छाति।।

(गीता 5/29)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थ रहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है।

◆ ◆ ◆

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थः– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्षः 42 अंक : 8

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्।।
त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम्।
अनावृतार्गला द्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्।।
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाशते।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया।।

हे सूर्यदेव! आप अखिल जगत् के नेत्र तथा समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। आप ही सब जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं और सब जीवों के कर्मानुष्ठान में लगे हुए जीवों के सदाचार हैं। हे सूर्यदेव! आप ही सम्पूर्ण सांख्ययोगियों के प्राप्तव्य स्थान हैं। आप ही मोक्ष के खुले द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओं की गति हैं। हे सूर्यदेव! आप ही सारे संसार को धारण करते हैं। सारा संसार आपसे ही प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आप ही इस संसार का बिना किसी स्वार्थ के पालन करते हैं।

नवम्बर, 2009

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय 12
3. गुरुजी मेरा है –जगदीश राए बंसल 14
4. प्राणायाम से रक्तचाप नियन्त्रित करें –डा. जे. पी. शर्मा 15
5. महाभारत में योग विद्या –डा. राजकुमारी त्रिखा 20
6. कामाख्या की यात्रा में सत्संग लाभ –डा. विजय सिंह 25
7. अष्टाङ्ग योग –डा. ऋषिराम शर्मा 29
8. दैवी ह्येषा गुणमयी –कृष्ण कुमार पाण्डेय 35
9. आश्रम समाचार 38
10. योग शास्त्र – श्रीमद्भगवद्गीता –अमित कुमार मिश्र 39

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 130.00
द्विवार्षिक	: रु. 250.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

विशेष लेख

योगियों का कोर्स

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

जिस प्रकार से हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत के बड़े–बड़े विद्यालयों के अन्दर छात्रों के अध्ययन के लिए पहले से ही उनका पाठ्यक्रम नियत रहता है उसी प्रकार योग में भी उच्चतम स्थिति प्राप्त करने के लिए उनका भी अभ्यास–क्रम विधिवत विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम की तरह से ही निश्चित रहता है। हमने इससे पहले यह भली प्रकार से समझा दिया है कि योगियो की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है और उसके बाद आगे क्या–क्या अभ्यसनीय विषय है, यह श्री गुरुदेव जी की कृपा से सामने आता रहता है। ''सिद्धयोग'' सिद्धों की एव श्री गुरुदेव की अनुकम्पा से ही प्राप्त हुआ करता है। ईश्वर के परम अनुग्रह को प्राप्त हुआ करता है। ईश्वर के परम अनुग्रह को प्राप्त कर मनुष्य सिद्धयोग का विद्यार्थी बन पाता है और उसका अधिकारी बन जाने के बाद श्री गुरुदेव के परम अनुग्रह से इस मार्ग में उसकी प्रगति होती चली जाती है। जो लोग सिद्धयोग के विद्यार्थी बन जाते हैं और मन की एकाग्रता के साथ अन्तर–भूमिकाओं में उनका प्रवेश हो जाता है ऐसी स्थिति में योग का द्वार उनके लिए खुल जाता है। वे लोग उत्तरोत्तर उन्नति करते रहते हैं। भगवान व्यासदेव ने पातंजलियोग सूत्र के भाष्य में लिखा है:–

योगिनो योग एव उपाध्याय:।

अर्थात्– योग में प्रगति हो जाने के बाद योगी का वह योग ही गुरु बना रहता है और वह यह बतलाता रहता है–

इयमन्तरा भूमिरियमन्तरा भूमि:।

उसके बाद यह स्थिति होगी, उसके बाद यह स्थिति होगी। ऐसे दृश्य साधकों के सामने अपने आप ही आते रहते हैं और उन दृश्यों के अनुसार यदि अपने गुरुदेव का परम कृपा पात्र है तो वह योगी साधक अन्तरायों से बचकर अपनी साधना को बढ़ाता चला जाता है और थोड़े समय में ही उसको ''अभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि'' हो जाती है।

अत: योगियों का अभ्यास क्रम, मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होता है। अपने मन में एकाग्रता के अभ्यास को उच्चतर बनाकर संयम तक ले जाने के लिए भगवान पतंजलिदेव ने अपने अष्टांग–योग के अन्दर तीन उच्चतम साधनों का वर्णन किया है जिनको सिद्ध कर लेने के बाद ही योगी संयम के विषय को भली प्रकार से समझ सकता है और संयम सिद्ध हो जाने पर ही उसका भूमियों में विनियोग किया जा सकता है और वस्तु की यथार्थ स्थिति को जा[illegible] जा सकता है, किन्तु उससे पहले श्री पतंजलि जी के बतलाये हुए उन तीन प्रमुख साधनों को अभ्यास में ले

आना परम आवश्यकीय है।

इन तीनों साधनों का नाम धारणा, ध्यान और समाधि है। ये अष्टांग–योग के अंतरंग साधन माने जाते हैं, क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार अष्टांग–योग के पाँच अंग, मन की आभ्यन्तर स्थिति हुए बिना भी अभ्यास में लाये जा सकते हैं, किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि को तभी मनुष्य अपने अभ्यास में ला सकता है, जब वह अन्तर्चक्षु हो चुका हो। वह बाह्य व्यापार को बन्द करके अन्तरावलोकन का अभ्यासी बन चुका हो। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अंग इस प्रकार से हैं–

धारणा

भगवान पतंजलिदेव ने धारणा का लक्षण इस प्रकार से लिखा है:–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात्–किसी लक्ष्य स्थान में अपने चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यासदेव ने यह पंक्ति लिखी है:–

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाऽग्रे इत्येवमादिषु, देशेषु, बाह्ये वाविषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात्– नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि स्थानों में बाह्य वृत्ति से या आभ्यन्तर वृत्ति से केवल वृत्ति से ही चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। जो व्यक्ति मन की एकाग्रता के अन्य साधनों का भी अभ्यास करते हुए मन की एकाग्रता के लिए लक्षीभूत स्थल पर हृदय कमल या मूर्धाज्योति आदि के अन्दर मन को एकाग्र करके धारणा का अभ्यास करते हैं, उनका वह अभ्यास स्वाध्यायपूर्वक अनवरत चलता है तो लगातार छः मास के अभ्यास के बाद वह धारणा ही ध्यान के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ध्यान चित्त की उस स्थिति का नाम है जिसमें चित्त की बाह्य वृत्ति का उपशमन हो जाने के बाद आभ्यन्तर वृत्ति का पूर्णरूपेण अभ्युदय हो जाता है। उसमें चित्त का बिल्कुल सदृश प्रवाह चलने लगता है। उसी को भगवान पतंजलि देव ने ध्यान कहा है।

ध्यान

ध्यान का लक्षण करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने यह सूत्र लिखा है:–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

अर्थात्– ध्येयभूत लक्ष्य स्थल पर चित्त का तैलधारावत् सदृश प्रवाह ही ध्यान कहलाता है। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी ने भाष्य करते हुए यह वार्तिक लिखी है:–

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।

अर्थात्–उस लक्ष्य स्थान में ध्येयावलम्बन भूत विषय में चित्त का अनवरत सदृश प्रवाह

जिसमें कोई दूसरा ज्ञान पैदा ही न हो, चित्त की इस प्रकार की स्थिति को ध्यान कहते हैं। इस प्रकार का ध्यान जब साधक का दो या तीन घण्टे अनवरत चलने लग जाये और इसमें प्रत्ययान्तर छू भी न सके, वृत्ति बिल्कुल एकाग्र रहे तो कुछ समय के बाद यही समाधि के रूप में परिवर्तित हो जाया करता है। मनुष्य के मन की वृत्ति तदाकारित होकर तद्रूप हो जाया करती है, उसी का नाम समाधि है।

समाधि

समाधि का लक्षण पतंजलिदेव जी ने निम्नांकित सूत्र में प्रकट किया है:–

तदेवार्थ मात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।

इस सूत्र पर व्यास जी ने निम्नांकित पंक्तियों में भाष्य लिखा है, वह इस प्रकार से है:–

ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासः प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येय स्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात्–यह ध्यान ही ध्येयाकार वृत्ति में बदला हुआ प्रत्यान्तरेण अपरामृष्ट होकर जिसमें साधक अपने स्वरूप को ही भूल जाये और अपने आपको ध्येयाकार में अवस्थित समझने लगे अर्थात् उसको यह आभास न रहे कि मैं कोई यज्ञदत्त, देवदत्त, चन्द्रदत्त आदि व्यक्ति हूँ। प्रत्युत यह आभास हो कि जिसका मैं ध्यान करता हूँ वह राम, कृष्ण या शिव मैं ही हूँ और इस प्रकार स्थिति के अनवरत बढ़ जाने के बाद साधक के अन्दर अपने इष्टदेव की सिद्धियों का स्वतः प्रकाश होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अब यह समाधि ही हो गयी। समाधि का ही उत्कृष्ट रूप संयम कहलाता है। भगवान पतंजलिदेव ने संयम की परिभाषा इस प्रकार लिखी है:–

संयम

त्रयमैकत्र संयमः।

इस सूत्र पर व्यास जी का भाष्य इस प्रकार है–

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य, त्रयस्य तांत्रिकी परिभाषा संयम इति।

अर्थात्– धारणा, ध्यान, समाधि तीनों साधन जब एक विषयक हो जायें, उनके बीच में कोई अन्तरायें न आयें, तभी संयम सिद्ध हुआ समझना चाहिये और संयम सिद्ध हो जाने के बाद ज्यों–ज्यों अभ्यास के बल से संयम की उत्कृष्ट स्थिति होती चली जायेगी तब इस प्रकार के संयमित मन को हम जहाँ भी जगायेंगे वह उस विषय को तत्काल प्रत्यक्ष कर लेगा। ज्यों–ज्यों योगी संयम पर विजय प्राप्त करेगा, त्यों–त्यों उसको प्रज्ञालोक होता चला जायेगा। अर्थात्–समाधि प्रज्ञा बिल्कुल होती चली जायेगी। इस प्रकार संयम सिद्ध हो जाने के बाद ही योगी को संयम का उपयोग अन्यान्य भूमियों में करना चाहिये न कि उत्तरभूमियों में। जो साधक निम्न श्रेणियों के अन्दर बल पा जाता है उसकी उत्तर श्रेणियाँ अपने आप ही उत्कृष्ट हो जाया करती हैं। कदाचित् ईश्वर के परम

अनुग्रह से या गुरुदेव की अनुकम्पा से योगी जितोत्तर भूमि हो जाता है। अर्थात्–संयम की ऊँचे विषयों में सफलता पा जाता है तो उसको निम्न श्रेणियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार से एक छात्र बाकायदा स्कूल की शिक्षा न पाकर अपनी स्वतन्त्रता से अध्ययन करके बी०ए०, एम०ए० आदि परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर लेता है तो उसको पहली, दूसरी आदि छोटी श्रेणियों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार जितात्र भूमि योगी को अध: भूमियों में संयम की आवश्यकता नहीं रहती। वैसे इस अभ्यासक्रम से जो योगी अपने मन को संयमित कर लेता है वह ईश्वर के परमानुग्रह से उत्तरोत्तर भूमियों में भी विजय प्राप्त करता है। भगवान व्यासदेव जी ने एक श्लोक के रूप में दो पंक्ति इस प्रकार लिखी हैं:–

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।

योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्।।

अर्थात्–योगी का यह योग ही गुरु बन जाता है क्योंकि योग से ही योग चलता है, जो आलस्य रहित होकर योगाभ्यास करता है वह अवश्य समाधि को प्राप्त हो जाया करता है। जिस योगी ने अपने मन को संयमित कर लिया है उसको चाहिये कि जिस अभ्यास क्रम को हमारे पूर्व आचार्यों ने बतलाया है उन विषयों के अन्दर मन को संयमित करके अपने आपको परिपूर्णरूपेण ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा बना ले तभी वह व्यक्ति युक्तयोगी कहलाने का अधिकारी बन सकेगा।

युक्त योगी का लक्षण

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार लिखा है:–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म कांचन:।।

अर्थात्–जिसकी आत्मा ज्ञान–विज्ञान से परिपूर्ण है और विकार रहित स्थिति में पहुँच चुकी है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है और जिसकी दृष्टि में लोहा, पत्थर और सोना सभी कुछ एक जैसा ही है अर्थात्–किसी में उसकी आसक्ति नहीं होती, ऐसा योगी युक्तयोगी कहलाता है। ज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सभी विषयों में संयम करके उनके यथार्थ तत्व को जानकर उन पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेना। यही ज्ञान तृप्तात्मा का लक्षण है। इसके अतिरिक्त जिस योगी ने पूर्णरूपेण आत्म साक्षात्कार कर लिया है और विषयवासना के गर्त से पूर्णरूपेण ऊँचा उठ चुका है, इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार कर लिया है वही योगी युक्तयोगी कहलाता है। युक्तयोगी बनने के लिए साधक को चाहिये कि वह शास्त्रोक्त विधि से विभिन्न विषयों में संयम करता हुआ युक्त–योगिता को प्राप्त करे। भगवान पतंजलिदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण लिखते हुए इस सूत्र की रचना की है:–

वितर्कविचारानन्दास्मितारुपानुगमात् सम्प्रज्ञात:।

अर्थात्– वितर्क, विचार आनन्द अस्मिता के भेद से ही सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है।

वितर्कानुगत योग

सम्प्रज्ञात योग की पहली श्रेणी वितर्कानुगत समाधि कहलाती है। इसका अर्थ है– योगी जिस समय प्राथमिक अभ्यास शुरू करता है, उस समय वह चित्त को ठहराने के लिए स्थूल विषयों का अवलम्बन लेता है। इस अभ्यास में योगी के सामने प्रायः स्थूल विषय ही आया करते हैं। इसको इस प्रकार समझ लेना चाहिये जैसे किसी साधक ने अपने देव भगवान शिव का अथवा राम या कृष्ण का ध्यान आरम्भ किया, तो इस समाधि में उसके सामने इष्टदेव की मनुष्याकृति ही आती रहेगी और जिस समय मन इस ध्यान से विचलित होगा तो उस समय उसके सामने मनुष्य लोक के ही दृश्य अधिक आयेंगे। यह वितर्कानुगत योग सम्प्रज्ञात योग की पहली श्रेणी है। जिस समय योगी अन्तर्मुखी हो करके किसी विषय का चिन्तन करने लगता है तो उस समय उसको उत्तरोत्तर प्रगति कराने के लिए सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति उसकी सहायक हुआ करती है। जिस समय वह अपनी पहली श्रेणी को अच्छी प्रकार से परिपक्व बना चुकता है उस समय उसके सामने द्वितीय श्रेणी के दृश्य उर–प्रेरक गुरुदेव की प्रेरणा से स्वयं ही आने लगते हैं और परिणामस्वरूप उसका यह पूर्वाभ्यास स्वतः ही छूट जाता है क्योंकि उसके अभ्यास का विषय उससे भी सूक्ष्म विचारानुगत योग का हो गया है।

विचारानुगत योग

विचारानुगत योग में मनुष्य अपने इष्टदेव के स्वरूप को मनुष्य लोक की अपेक्षा बहुत अधिक सुन्दर एवं आभामान देखने लगता है। वह यह समझता है मेरे ध्यान ध्येयावलम्ब मेरे इष्टदेव अब उत्तरोत्तर बहुत ही दिव्य छवि वाले परम रमणीक एवं सुन्दर बनते जा रहे हैं। इस द्वितीय श्रेणी के अन्दर योगी अपने इष्टदेव को देवाकृति में देखने लगता है। जब उसका यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है उस समय उसके सामने स्वतः ही देवलोक के दृश्य आने लगते हैं। वह योगी अपने इष्टदेव को बहुत ही सुन्दर दिव्याकृति में देखता है। ऐसी स्थिति में इसके सामने देवलोक के दृश्य आने लगते हैं। कभी वह देखता है, उसके सामने देवोद्यान, नन्दनवन आदि के दृश्य आ रहे हैं। कभी–कभी देवलोक के और रमणीक दृश्य या देवलोक की सुन्दरियाँ नृत्य करती हुई सामने आती हैं। तरह–तरह की वाणियाँ सुनाई देती हैं अब तक यह साधक योगी "मनुष्यः देवानाम् पशुः" के अनुसार देवताओं के अधीन रहने वाला सेवक के समान साधारण प्राणी था, किन्तु गुरुदेव की परम अनुकम्पा एवं ईश्वरानुग्रह को पाकर अब यह योगी बन गया और बड़े दिव्यात्माओं का पूज्य हो गया। यह स्थिति इस प्रकार की है, जिसमें कोई भाग्यवान गुरुदेव का लाड़ला, वीर, धीर, संयमी पुरुष ही आगे निकल पाता है, अन्यथा दैविक प्रलाभनों में आ करके अपने आपको पुनः अनिष्टों में डाल देता है। इस स्थिति में गये साधकों के लिए भगवान पतंजलिदेव का आदेश है कि :–

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मया करणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात्।

अर्थात्–जिस समय योगी के सामने देवलोक के दृश्य आये और देवता उसका प्रेमपूर्वक आह्वान करें उस समय योगी को बिल्कुल सतर्क हो जाना चाहिए। क्योंकि देवलोक के रमणीक दृश्यों में फँस करके उसका दुबारा अनिष्ट न हो जाये। इसलिए भगवान पतञ्जलिदेव ने यह आदेश दिया कि जिस समय योगी को देवता लोग दिव्य भोग दिखलाकर उसको आकर्षित करने की चेष्टा करें उस समय योगी को चाहिए कि वह देवलोक के प्रलोभनों को न देखें और देखने पर भी यदि उसने अपने आपको नियत्रण में कर लिया है तो उस हालत में योगी के मन में यदि यह अभिमान पैदा हो जाता है कि अब मैं देवताओं का भी पूज्य हो गया हूँ इसलिए मेरी इन पर हुकूमत है और मुझे इनकी बात माननी चाहिये। ऐसा अभिमान करने से योगी का पतनभय रहता है और देवताओं की बात मान करके वह वासनीय भोगों में प्रवृत्त हो जाता है तो प्रवृत्ति बढ़ जाने से फिर उसी खंदक में पड़ जाता है जहाँ से वह बड़ी कठिनता के साथ पार हुआ था। महापुरुषों के चरणों में इस प्रकार की कई घटनायें घटती रहा करती हैं। इसके उदाहरण स्वरूप एक यथार्थ घटना लिख देना चाहता हूँ जिसको पढ़कर हर व्यक्ति सचेत हो जाये और वह इनके प्रलोभन से बच करके अपना अभ्युदय करता रहे।

राधेश्याम नागा
(उपनाम रमणिगिरि नागा)

हमारे आश्रम योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवाई में अकस्मात् घूमता–घामता एक नवयुवक नागा साधू आया और उसने आश्रम की नियमावलि को स्वीकार करके योगाभ्यास आरम्भ किया। श्री प्रभुजी के परम अनुग्रह को पाकर उसने बहुत जल्दी अपना अभ्युत्थान किया और थोड़े ही समय के अन्दर योग की द्वितीय श्रेणी विचारानुगत में वह प्रवेश कर गया। उसके ध्यान में भगवान शिव के लीला स्थल एवं अन्य सत्पुरुषों की अनुभूतियाँ हुआ करती थीं। शनैः–शनैः अभ्यास से यह स्थिति आती गयी कि उसने देवलोक के सुन्दर दृश्य देखने आरम्भ कर दिये। वह कभी देवेन्द्र लोक में जाकर उनके रमणीक उद्यान और लीला–स्थलों को देखता, कभी देवांगनाओं की नृत्य कलाओं को देखता और कभी रसायनों का अनुभव किया करता था। शनैः–शनैः वहाँ की नृत्य कलाओं को देखने का वह अभ्यासी हो गया। उसका स्वर्गीय उपभोगों में आकर्षण बढ़ गया और देव सुन्दरियाँ उसका मान करने लगीं। उसने एक बहुत सुन्दर कन्या को देखा जिसको देखकर उसका मन उसकी ओर आकर्षित हो गया। ऐसी स्थिति होने पर देवताओं ने उसको परामर्श दिया कि यह देवकन्या तुम्हारे लिए बहुत दिनों से तप कर रही है। यह सोचती है कि कब तुम मनुष्य लोक को छोड़कर इस दिव्य लोक में आकर रहोगे सो अभी तक इस प्रकार का कोई संयोग नहीं हो पाया। अब परम गुरुदेव की अनुकम्पा को पाकर तुम्हारा परम पुण्य बढ़ गया है और इस लोक में आ गये हो इससे अच्छा तुम्हारे लिए और कोई स्थान नहीं है। गुरुदेव के चरणारविन्द में जाकर तुमने प्राप्त करने योग्य वस्तु को पा लिया है। इसलिए अब इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे गुरुदेव तुम्हें यहाँ आने से रोकते होंगे,

इसलिए तुम आज ही आश्रम छोड़कर कुसुम सरोवर पर जा करके तप करो। उसके फलस्वरूप तुम इसी दिव्यलोक में आ जाओगे या यह देवकन्या ही वहाँ प्रकट होकर वहीं पुष्प–मालायें पहनायेंगी। परिणामस्वरूप वह उत्तम साधक उन प्रलोभनों में आकर आश्रम से चला गया। देवलोक का अतिथि तो वह नहीं बन पाया किन्तु अन्यान्य सम्पर्कों से उसका पतन अवश्य हो गया और अपनी उच्चतम स्थिति से पुनः साधारण मनुष्य लोक का साधारण मनुष्य ही रह गया। इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने आदेश दिया है:–

स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।।

यह सम्प्रज्ञात योग की दूसरी श्रेणी है जिसमें योगी के सामने देवलोक के दिव्य दृश्य सामने रहा करते हैं और प्रबल प्रलोभन उसके सामने आया करते हैं। किन्तु श्री गुरुदेव का परम कृपा पात्र इन सब विघ्न–बाधाओं से बचकर अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कदम बढ़ाता चला जाता है और शनैः–शनैः अपने परम लक्ष्य को अवश्य पा लेता है। इससे आगे योग की तृतीय श्रेणी है–आनन्दानुगत योग।

आनन्दानुगत योग

इस समाधि में बुद्धि से परम पवित्र धर्म प्रकट होते हैं। सत्व शुद्धि होकर मनुष्य विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है। उसके रोग शोक नष्ट हो जाते हैं, पवित्र प्रेम, ज्ञान, धर्म और दया का पूर्ण उदय हो जाता है। योगी अपने आपको सर्वथा आनन्द रूप में देखने लगता है। अब उसका लक्ष्य अखण्ड भू–मण्डलाकार व्यापक तेज रह जाता है। जिस इष्टदेव का अभी तक चिन्तन किया था, उसको अणु परमाणुओं में ओत–प्रोत देखने लगता है। यह परम सुख है इसको पा करके योगी और कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रखता। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धि ग्राह्य मतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलतितत्त्वत:।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरूणापि विचाल्यते।।

अर्थात्–ये आत्यन्तिक सुख है और केवल मात्र बुद्धिग्राही है, अतीन्द्रिय है। इस स्थिति में जाकर मनुष्य पतन से परे हो जाता है और वह विचलित नहीं होता। यह ऐसा सुख है जिसको पाकर के योगी और कुछ पाना नहीं चाहता और बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता। हमेशा आनन्दमग्न रहा करता है। यहाँ अपने आप ही युक्तता होने लगती है और इस समाधि में समाधिस्थ होकर योगी प्राणी मात्र के अन्दर अपने आपको और प्राणीमात्र को अपने अन्दर देखने लगता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा है:–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व चमयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति।।

अर्थात्–जो प्राणी मात्र में अपने आपको देखता है और अपने अन्दर प्राणीमात्र को देखता है वह युक्तात्मा है। वह कभी भी मुझसे दूर नहीं होगा। दूसरे शब्दों में जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मेरे अन्दर देखता है उसके लिए मैं कभी नष्ट नहीं होता। इस बुद्धिग्राही सुख को पाकर के योगी अपने आप को कृतार्थ बना लेता है। इससे आगे की चौथी श्रेणी वह है जिसमें वृत्ति निर्वाणोन्मुखी हो जाती है। उस समाधि का नाम अस्मितानुगत योग है।

अस्मितानुगत योग

अस्मितानुगत समाधि वह कहलाती है जिसमें योगी ब्रह्माण्ड भर के समस्त दृश्यों को देखकर शान्त हो जाता है। वृत्ति केवलमात्र एक शेष रह जाती है जिसको निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहा करते हैं। इस स्थिति के योगी की स्थिति भजन करती है, अस्मि, अस्मि, अस्मि अहमेवास्मि अर्थात्–मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ यह सब कुछ मैं हूँ। इस समाधि में योगी को दो विशेष प्रकार की ताकत उपलब्ध होती हैं. पहली ताकत उसकी बुद्धि ऋतम्भरा बन जाती है। भगवान पतंजलिदेव कहते हैं–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

तस्मिन् समाहित चित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति, अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽस्तीति।

अर्थात्–इस समाधि में जो योगी को बुद्धि पैदा होती है वह अन्वर्था अर्थात् सत्य को धारण करने वाली ही होती है। योगी जो कुछ सोचता है वह सत्य सोचता है। जो हरकत होती है वह सत्य होती है। उसके मन में जो भी संकल्प आयेगा वह वही होगा जो हो रहा होगा। यदि योगी यह विचार करता है कि उस देश में इस समय वर्षा हो रही है तो वह हो ही रही है। तभी उसके मन में यह संकल्प बनेगा। अन्यथा नहीं बनेगा। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा और सभी प्रकार के संस्कारों को रोक देती है, केवल अपने ही संस्कार इसमें शेष रहते हैं, शेष संस्कार निर्वाणोन्मुखी वृत्ति के ही होते हैं। इस स्थिति में जा करके योगी सत्य संकल्प हो जाता है। वह जो कुछ सोचता है वह होने लगता है। यह भी एक प्रकार की सिद्धि है। इसको संकल्प सिद्धि कहते हैं। दूसरी सिद्धि चित्तनिर्माण शक्ति योगी को स्वभाव से ही प्राप्त हो जाती है। भगवान पतंजलिदेव कहते हैं–

निर्माण चित्तान्यस्मितामात्राद्।

अस्मिता मात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माण चित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति।

अर्थात्– इस समाधि में अपना चित्त निर्माण करके योगी हजारों जगह एक साथ जा सकता है। वह जितने चित्त बनायेगा वे सभी उसके अधीन होंगे।

ये सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ हैं, जिनको पतंजलिदेव ने स्वीकार किया है। इस प्रकार से यह योगियों का कोर्स है और सम्प्रज्ञात योगियों के लिए अभ्यासक्रम का उत्तमोत्तम साधन है। जिस क्रम से चलता हुआ योगी अवश्य ही असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त हो जाता है। इसी साधन क्रम को हमारे अन्यान्य आचार्यों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से कहकर सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दिया है।

न्याय

पंजाब के राजा रणजीत सिंह बड़े ही बुद्धिमान् एवं न्यायप्रिय शासक थे। उन्होंने अपने राज्य में घोषणा करा दी थी कि जिस किसी को न्याय माँगना हो, वह निःसंकोच उनके पास आ सकता है। अन्याय उन्हें तनिक भी बर्दाश्त नहीं होता था। यही नहीं, ऐसे मामलों में वे स्वयं पूरी कार्यवाही देखते थे।

एक दिन एक विधवा बुढ़िया उनके यहाँ न्याय माँगने आयी। उसे महाराज के सम्मुख पेश किया गया। बुढ़िया ने अपनी परेशानी इस तरह बतायी– 'महाराज! मेरे घर में एक कुआँ है। मेरे एक धनवान् और प्रभावशाली रिश्तेदार ने उस पर नाजायज अधिकार कर रखा है। वह मुझे उस कुएँ से पानी भी नहीं भरने देता। उससे पूरा गाँव डरता है, इसलिए कोई गवाही देने को भी तैयार नहीं। सरकार, मुझे न्याय दिलायें।'

महाराजा को बुढ़िया की बात सुनकर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने कहा– 'माँ! मैं शीघ्र ही तुम्हें न्याय दिलाऊंगा। तुम अपने घर जाओ।'

बुढ़िया अपने घर चली गयी।

इसके कुछ दिन बाद महाराजा स्वयं उस बुढ़िया के गाँव में आये। वहाँ जाकर उन्होंने बुढ़िया के कुएँ का पता लगवाया। कुएँ के पास पहुँचकर उन्होंने बुढ़िया के रिश्तेदार को बुलवाया और उससे कहा– 'मुझे पता चला है कि इस कु ँ पर तुम्हारा अधिकार है। देखो, हमारी एक हजार अशर्फियाँ इस कुएँ में गिर गयी हैं, तुम उन्हें निकालकर तुरंत हमारे सामने पेश करो।

'महाराजा की बात सुनते ही बुढ़िया का रिश्तेदार घबड़ा गया और गिड़गिड़ाता हुआ बोला– 'महाराज! यह कुआँ मेरा नहीं है। यह तो मेरी एक रिश्तेदार विधवा बुढ़िया का है। मैं तो सिर्फ इसे काम में ले रहा हूँ।'

उस व्यक्ति की बात सुनकर महाराजा ने बुढ़िया को बुलवाया और सबके सामने उससे कहा– ''माँ! देखो यह व्यक्ति स्वयं कह रहा है कि यह कुआँ इसका नहीं है, बल्कि तुम्हारा है। अब तुम आराम से इस कुएँ का उपयोग करो। फिर कोई दिक्कत हो तो निःसंकोच मेरे पास चली आना।'

इस प्रकार बुढ़िया को उसका कुआँ वापस मिल गया और वह महाराजा रणजीत सिंह की न्यायप्रियता का गुणगान करने लगी।

बुद्धियोग

संसार में मनुष्य का जीवन सदा क्लेश से युक्त रहता है। जीवन में पग-पग पर संकट व कठिनाईयाँ बनी रहती हैं। इन सब का मूल कारण अविद्या या अज्ञान ही है। अविद्या के स्वरूप को समझना ही कठिन है। यही समस्त क्लेशों का मूल कारण है। भक्ति एवं योग साधना से ही क्लेश दूर होते हैं। भगवान ने श्री मद्भगवद्गीता में अपने चार प्रकार के भक्त बताये हैं। इनमें जिज्ञासु एवं ज्ञानी भगवान् के निष्काम भक्त हैं। आर्त एवं अर्थार्थी परिस्थितिवश भगवान् के शरण में आते हैं। आर्त भक्त संकट में होता है और भगवान् को दीन होकर पुकारता है। जिस प्रकार से गज ने ग्राह के द्वारा पकड़े जाने पर भगवान को अत्यन्त व्यग्र होकर याद किया। इसी प्रकार से द्रोपदी ने भी भगवान् को याद किया। भगवान् ने भी भक्तों की रक्षा की व लाज बचाई। इष्टदेव का या ईश्वर के स्थूल दर्शन से भी परम कल्याण नहीं हो पाता। मनुष्य असंख्य कामनाओं से युक्त होकर आराधना करता है उसकी कुछ अभिलाषा भी पूरी हो जाती है। किंतु दूसरी इच्छा की पूर्ति न हो पाने से फिर मनुष्य क्लेशित रहता है। सामान्य आस्तिक मनुष्य भगवान् से यही प्रार्थना करता है 'सुख सम्पत्ति घर आवे कष्ट मिटे तन का' इतनी ही मांग रहती है। रजोगुण तमोगुणी वृत्ति होने के कारण मनुष्य का भगवान से स्वाभाविक प्रेम नहीं हो पाता। जिज्ञासु तथा ज्ञानी भक्त भगवान् के प्रिय हैं। ज्ञानी के लिए तो भगवान् अपनी आत्मा ही बताते हैं। ज्ञानी का प्रेम निःस्वार्थ होता है, स्वाभाविक होता है। 'नराणाम् क्षीणपापानाम् कृष्णे भक्ति प्रजायते'। अनेक जन्मों के तप, ज्ञान एवं समाधि के अभ्यास के अनन्तर ही भगवान् में निश्छल भक्ति व प्रेम उत्पन्न होता है। ऐसे लोगों के जीवन के समस्त क्रिया-कलाप भगवान् की प्रसन्नता एवं प्राप्ति के लिए होते हैं। ये लोग निरन्तर भगवद्चिन्तन परायण रहते हैं। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् कहते हैं – जो अत्यन्त प्रेमपूर्वक सतत् चिन्तन करते हैं। जिनका मुझ में ही प्राण रहता है, मुझ में ही चित्त रहता है, चिन्तन करते हुए वाणी से मेरा गुणानुवाद करते रहते हैं। ऐसे भक्तों को मैं अलभ्य वस्तु बुद्धियोग के रूप में दे देता हूँ। इस बुद्धियोग से वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। उन पर कृपा करते हुए मैं उनके अन्तःकरण मे व्याप्त अज्ञान-अन्धकार को अपने आत्मतेज से नष्ट करके ज्ञान की ज्योति जला देता हूँ। इस प्रकार से उन भक्तों का अज्ञान व अविद्या सदा-सदा के लिए नष्ट हो जाता है।

बुद्धियोग के विषय में गीता में भगवान् ने कई जगह पर कहा है। दूसरे अध्याय में भी **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते'** अर्थात् बुद्धि युक्त योगी पुण्य और पाप दोनों को

त्याग देता है इसलिए बुद्धियोग के लिए साधक को ध्यान योग का अभ्यास करना चाहिए। अठारहवें अध्याय में भी भगवान् कहते हैं– 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततम् भव'। अर्थात् बुद्धियोग का आश्रय लेकर हे अर्जुन! तू निरन्तर मुझमें अपने चित्त को लगा इसी से तू भवसागर से पार हो जायेगा।

योग दर्शन में ऋतम्भरा बुद्धि की बात आती है। सत्य को धारण करने वाली बुद्धि का नाम ऋतम्भरा बुद्धि है। यह बुद्धि की अत्यन्त निर्मल अवस्था है। इसी से ऋषि–मुनि तत्व द्रष्टा कहे जाते हैं। परम तत्व का दर्शन इसी बुद्धि में होता है। इसी से विवेक ख्याति होती है। इसे ही योग में प्रज्ञा प्रसाद तथा गीता में अध्यात्म–प्रसाद कहा गया है। इस प्रज्ञा के उदय होने पर सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म जल जाते हैं। केवल प्रज्ञाजन्य निर्वाणोन्मुखी संस्कार ही शेष रहता है जो देहपात के अनन्तर स्वतः नष्ट हो जाता है। देहपात से पहले–पहले यह संस्कार रहता है। यह संस्कार अन्य संस्कारों को उत्पन्न नहीं होने देता– **'तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी:** ऋतम्भरा के संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। जब तक एक भी संस्कार शेष रहता है आवागमन छूटता नहीं है। इस सम्बन्ध में गुरुदेव एक दृष्टान्त दिया करते थे।

काँगड़ा की पहाड़ियों पर एक योगी रहता था। वह समाधि की उच्चतम अवस्था को पा चुका था। शरीर के अत्यन्त जीर्ण होने के कारण वह अपने शरीर का त्याग करना चाहता था। उन्होंने अपने गुरुदेव सदाशिव प्रभु से प्रार्थना की प्रभो! मेरी चितिशक्ति आप में मिलना चाहती है। महाप्रभु ने पूछा– क्या तुम्हारे सभी संस्कार भुगतान में आ चुके हैं? अब कोई संस्कार शेष नहीं है? उन्होंने कहा – प्रभो! मेरे संस्कार सभी समाप्त हो चुके हैं। इस पर महाप्रभु ने कहा– तुम अपने पूर्व के एक सौ एक जन्म को देखो– योगी ने उस जन्म का साक्षात्कार किया तो पाया कि उन्होंने बिल्ली मार दी थी उसका संस्कार शेष है। उस योगी ने समाधि लगाकर संयम करके अपने कारण शरीर में प्रवेश करके उस संस्कार का क्षण भर में ही भुगतान कर लिया। इसके पश्चात् उस योगी की चिति शक्ति महाप्रभु में विलीन हो गई।

सिद्धयोग परम्परा में गुरुदेव शिष्य के बुद्धिस्थ होकर अज्ञान अन्धकार को दूर करते हैं। शिष्य के अविद्या ग्रन्थि का भेदन करते हैं। विवेक ख्याति के हो जाने पर हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाता है–उपनिषदों में लेख है –

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे।।

ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर हृदय के अज्ञान ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सब संशय नष्ट हो जाते हैं। सभी शुभाशुभ कर्म संस्कार क्षीण हो जाते हैं।

गुरुदेव का एक शिष्य रघुनन्दन प्रसाद था जिन्हें टाटा बाबा के नाम से पुकारते थे। उन्हें गुरुदेव की कृपा से दिव्य दृष्टि मिल गई थी। वे भूत–भविष्य के ज्ञाता बन गये थे। गुरुदेव की सेवा से तथा अपनी साधना से कुछ ही वर्षों में उन्हें अन्तर्निधि प्राप्त हो गई थी। ये गुरुदेव

की कृपा का ही परिणाम था।

बुद्धियोग के प्राप्त हो जाने पर ही योगी के जन्म-मरण की श्रृंखला नष्ट होती है। इसलिए साधक को अपनी साधना निरन्तर बनाये रखना चाहिए जब तक उसे पूर्ण बुद्धियोग की प्राप्ति नहीं हो जाती। बुद्धि की अत्यन्त निर्मलता व शुद्धि के लिए समाधि का अभ्यास अपरिहार्य है।

गुरु जी मेरा है।

जगदीश राए बंसल ''अधम'', नई दिल्ली

गुफा- प्रभू जी का डेरा है,
यहाँ बैठा गुरु जी मेरा है।
गुरु जी मेरा है।।

मेरे गुरु जी योग योगेश्वर,
ब्रह्म, विष्णु और महेश्वर।
मेरी जिन्दगी का सवेरा है।।
गुरुजी मेरा है।

गुफा प्रभू----

यहाँ सदा शिव बसेरा है,
सिद्ध योग का जखीरा है।
जन-जन को पार लगाना है।।

गुरु जी ----

सादा रहना और सादा खाना,
योग प्रचार का कैम्प लगाना।
गंग योग बहाना है।।

गुरु जी----

शरणागत की झोली भरते,
शक्ति का संचार है करते।
प्रभू राम लाल का चेरा है।।

गुरु जी----

गीता ज्ञान हमें समझाते,
जीवन तत्व रोज कराते।
''अधम'' गुरु अलबेला है।।

गुरु जी----

प्रभू जी का डेरा है।
गुरु जी मेरा है।।

प्राणायाम से रक्तचाप नियन्त्रित करें

डा. जे. पी. शर्मा, पौंटा साहिब जिला सिरमौर (हि.प्र.)

मानव शरीर ब्रह्माण्ड की तरह है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखाई देता है, उसी तरह हमारे शरीर में भी वह सब होता है। ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्रमा प्रत्यक्ष दिखते हैं, ठीक उसी प्रकार सूर्य तथा चन्द्र नाड़ियाँ हमारे शरीर में होती हैं। सूर्य नाड़ी से गर्म तथा चन्द्र नाड़ी से ठंडी हवा निकलती है। मनुष्य तथा पशुओं में नाक के दो द्वार होते हैं जिन्हें नासाद्वार कह कर पुकारते हैं। दाहिने नासाद्वार से प्राय: गर्म तथा बाँये नासाद्वार से ठंडी हवा प्रश्वाँस के रूप में बाहर निकला करती है। अतः दाँये नासाद्वार में सूर्य नाड़ी तथा बाँये नासाद्वार में चन्द्र नाड़ी होती है। दोनों नासाद्वारों से शरीर के अन्दर की हवा प्रश्वाँस रूप से निकलती रहती है। प्राय: दोनों नासिका छिद्रों से समान रूप से अन्दर की हवा बाहर नहीं निकलती। दो-दो घंटों में निकलने वाली हवा की गति बदलती रहती है। केवल मृत्यु अथवा समाधिस्थ स्थिति में ही प्रश्वास रूप में हवा दोनों नासा छिद्रों से समान रूप से निकला करती है।

हमारे शरीर में नस-नाड़ियों व तन्त्रकोशिकाओं का जाल फैला हुआ है जिनके द्वारा पूरे शरीर को ऊर्जा का पोषण होता रहता है। लगभग साढ़े तीन करोड़ नस-नाड़ियाँ शरीर में होती हैं जिनमें बहत्तर हजार नाड़ियों की पहचान हो सकी है। भोजन के रूप में खाद्य वस्तुओं का पाचन आमाशय में होता है। नाड़ियों द्वारा पाचन के बाद खाद्य पदार्थों का अवशोषण कर लिया जाता है जो रक्त रूप में परिवर्तित होता है। रक्त ही शरीर का पोषण करता है जो शिराओं तथा धमनियों में दौड़ता है। इन्हें रक्त वाहिनी नाड़ियाँ कहा जाता है। रक्त वाहिनी दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की रक्तवाहिनी शरीर के खराब रक्त को लेकर हृदय तक पहुँचाती है जिनमें प्राय: हल्का नीला रक्त दौड़ता है, उन्हें शिरा नाड़ी कहा जाता है तथा दूसरे प्रकार की रक्त वाहिनी हृदय में साफ हुआ रक्त लेकर सारे शरीर में ले जाती है उसे धमनी कहते हैं। रक्त लाल रंग का होता है। खाद्य तत्त्व पृथ्वी तत्व कहे जाते हैं। पृथ्वी तत्वों से ही रस का निर्माण होता है। रक्त का स्वामी मंगल ग्रह है, जो स्वयं लाल रंग का है। मंगल गर्म तथा क्रूर ग्रह मानी गयी है। मंगल की माता पृथ्वी तथा पिता श्री हरि विष्णु जी हैं, इसीलिए मंगल भूमि पुत्र कहे जाते हैं। मंगल का मुख्य स्थान यकृत (लिवर) होता है। मंगल दोष के कारण हृदय की परेशानियाँ, उच्च तथा निम्न रक्त चाप, फोड़े फुंसी, कुष्ठ दोष, चम्बल, खाज-खुजली, कंठ माला आदि अनेकों बीमारियाँ हो जाया करती हैं।

कुपोषण, अनाप-सनाप, गर्म तथा अधिक चिकनाई वाले पदार्थों के खाने से पाचन प्रणाली कमजोर पड़ जाती है। ज्यादा ठंडे पदार्थों के खाने-पीने से भी शरीर में रक्त का प्रवाह

कमजोर हो जाता है। गर्म खाना खाने से, चाय–कॉफी के पीने से, नशीले पदार्थों के सेवन से रक्त प्रवाह बढ़ जाता है। भोजन में नमक की मात्रा ज्यादा होने से रक्त तेज गति से नाड़ियों में दौड़ने लगता है जिससे शरीर तथा मस्तिष्क गर्म तथा भारी हो जाता है। जब शरीर की धमनियों तथा शिराओं में रक्त तेज गति से दौड़ता है तब हृदय की गति भी बढ़ जाती है तथा दिल जोर–जोर से धड़कने लगता है। सारा शरीर गर्म हो जाता है। माथे पर पसीना आ जाता है। मन व्याकुल बेचैन हो उठता है, नींद नहीं आती है। शीतल ठंडे पदार्थ खाने–पीने को मन करने लगता है। नस–नाड़ियों पर तनाव बढ़ जाता है, उसे उच्च रक्त चाप कहा जाता है। सामान्यतः वयस्क मनुष्य का निम्न तथा उच्च रक्त चाप प्रायः 80 तथा 220 होता है। आयु के अनुसार कम या ज्यादा होता रहता है।

शीतल पेय पीने से, बासी खाना खाने से, नमक रहित पदार्थों के सेवन से प्रायः शरीर में रक्त मन्द गति से चलता है। रोगी व्यक्ति तथा कमजोर अवस्था में भी रक्त मन्द गति से बहता है। शरीर में रक्त की कमी से भी रक्त प्रवाह कम होने लगता है। रक्त की मन्द गति से चलने की अवस्था को निम्न रक्त चाप कहा जाता है। शरीर में रक्त चाप कम होने से अनेकों कारण होते हैं। निम्न रक्त चाप में प्रायः शरीर थका तथा टूटा सा बना रहता है। शरीर में ताजगी स्फूर्ति नहीं रहती तथा आलस बना रहता है। हर समय सुस्ती बनी रहती है। नस–नाड़ियों में चींटी जैसे चलने का आभास होता है। कभी–कभी ठंडा पसीना आता है।

''प्राणायाम से रक्त चाप नियंत्रण''

(क) उच्च रक्त चाप (High Blood Pressure) :– रक्त नलिकाओं, धमनियों, शिराओं में जब कोलेस्ट्रोल जमने लगता है तब रक्त के बहने का मार्ग, तंग, संकरा हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप रक्त को तेज दौड़ना पड़ता है। क्योंकि हृदय को रक्त की चौबीसो घंटे आवश्यकता रहती है। जब हृदय में अल्प मात्रा में गाढ़ा रक्त (कोलेस्ट्रोल युक्त) अन्दर आता है तब हृदय को ज्यादा समय रक्त साफ करने में लगता है अतः हृदय तेज गति से धड़कने लगता है। उस रक्त को पुनः धमनियों के द्वारा शरीर में भेजने के लिए भी ज्यादा छनउयपदह करना पड़ता है। इसी कारण धमनियों पर रक्त की गति का दबाव बढ़ जाता है। निम्न प्राणायाम करने से उच्च रक्त चाप नियन्त्रित किया जा सकता है।

1. शवासन– जब कभी आपको उच्च रक्त चाप का अहसास हो, फौरन शवासन में लेट जायें। सारे शरीर को ढीला छोड़ दें। दोनों हाथ शरीर के समानान्तर रखें। आँखे बन्द करें तथा शून्यता में चले जायें। शून्यता में तब तक बने रहें जब तक बन्द आँखों में आन्तरिक शून्यता न आ जाय। हो सके तो गुरु मन्त्र अथवा ओउम् का मन ही मन जाप करें। सद्गुरु कृपा से आप पाँच या दस मिनटों में पहले की अपेक्षा अपने को स्वस्थ पायेंगे।

2. चन्द्रभेदी प्राणायाम– चन्द्रमा शीतलता का द्योतक है, जो शरीर को ठंडा बनाता

है। निद्रा भी शीतल अवस्था में ही आती है। नासिका की बाँयी तरफ चन्द्र नाड़ी कही गयी है। गर्म वस्तु पर ठंडी-ठंडी हवा की जाती है तब गर्म वस्तु अपना स्वभाव बदलने लगती है तथा शीतलता से रिश्ता जोड़ने लगती है। शवासन के बाद सुखासन में सीधे बैठ जायें। दोनों आँखें बन्द करें। धीरे-धीरे बाँयें नासाद्वार से पूरक (श्वास खींचें) करें। जितना समय पूरक में लगा हो उसके कम से कम दोगुने या तीन गुने समय तक 'कुम्भक' (रोके रखें) करें। कुम्भक के पश्चात् 'रेचन' (श्वास बाहर निकालें) दाँयें नासाद्वार से धीरे-धीरे करें। ध्यान रखें रेचन में समय पूरक के समय का कम से कम दोगुना या चार गुना होना ही चाहिए। प्राणायाम खाली पेट करने से पूर्ण लाभ मिलता है। खाने के तीन घंटों बाद भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। चन्द्र भेदी प्राणायाम कम से कम ग्यारह बार तथा अधिक से अधिक सत्ताईस बार एक समय में किया जा सकता है। इस प्राणायाम से काफी लाभ अर्जित होता है।

3. शीतली प्राणायाम– सर्प गर्म रक्त वाला जीव है। अपने को तरोताजा रखने के लिए अपनी जीभ को सदैव बाहर निकालता रहता है। वह चलते-फिरते शीतली प्राणायाम करता रहता है। उसी प्रकार कुत्ता भी गर्म स्वभाव का प्राणी है। गर्मियों में कुत्ता अपनी जीभ को बाहर निकालता है तथा जीभ के द्वारा शीतल हवा अपने शरीर में प्रविष्ट कराके शीतल बना रहता है। शीतली प्राणायाम में सुखासन में बैठकर अपने मुँह से जीभ नालीदार बनाकर बाहर निकालें। जीभ नालीदार कौए की चोंच के आकार में बनाने का प्रयत्न करें। जीभ द्वारा बाहर की ठंडी हवा से पूरक करें, कुम्भक करें तथा धीमी-धीमी गति से रेचन करें। पूरक, कुम्भक तथा रेचन में 1 : 2 : 3 या 1 : 2 : 4 के अनुपात में समय रखें, शीतली भी 11 से 27 बार एक समय में की जा सकती है।

शीतली प्राणायाम में रेचन क्रिया दाँये नासिका छिद्र से भी की जा सकती है। वस्तुतः ऐसा करने से उच्च रक्त चाप शीघ्र ही सामान्य हो जाता है।

4. शीत्कारी प्राणायाम– शीत्कारी प्राणायाम, शीतली प्राणायाम की ही तरह का है, अन्तर केवल मुँह की मुद्रा बनाने का है। शीत्कारी प्राणायाम में जीभ ऊपर तालू में लगाकर थोड़ा सा मुँह खोलकर दाँतों द्वारा पूरक किया जाता है। शेष कुम्भक तथा रेचन शीतली प्राणायाम जैसा ही है। शीत्कारी में भी रेचन,दाँये नासाद्वार से किया जा सकता है। उससे ज्यादा लाभ रक्त चाप कम करने में मिलता है।

शीत्कारी प्राणायाम अगर जालन्धर बन्ध लगाकर किया जाये तथा रेचन क्रिया दाँयें नासाद्वार से की जाये तो सर्वोत्तम होगा, ऐसा करने से शीघ्र ही रक्त चाप सामान्य स्तर पर आ जायेगा। परंतु इसे कम से कम सात बार तथ अधिक से अधिक इक्कीस बार एक समय में करना उपयुक्त होता है।

(ख) **निम्न रक्तचाप (Low Blood Pressure)** :– निम्न प्राणायाम करने से लो

ब्लड प्रेशर सामान्य हो जाता है–

1. सूर्यभेदी प्राणायाम– किसी भी आसन या सुखासन में सीधे बैठ जायें। दोनों हाथ ज्ञान मुद्रा बनाकर घुटनों पर रख लें। शान्त भाव से आँखें बन्द करें। दाँये हाथ की मध्यमा अँगुली से बाँयी तरफ के नासाद्वार को बन्द करके धीरे–धीरे दाँये नासाद्वार से पूरक करें कुछ देर तक लगभग पूरक से दोगुने समय तक कुम्भक करें। कुम्भक के बाद धीरे–धीरे रेचन बांये नासाद्वार से करें। यही प्रक्रिया ग्यारह से सत्ताईस बार दुहराते रहें। ऐसा करने से रक्तचाप सामान्य हो जायेगा।

जालन्धर बन्ध लगाकर भी सूर्य भेदी प्राणायाम किया जाये तो निम्न रक्त चाप शीघ्र सामान्य हो जाता है। इस प्रक्रिया में दाँयी नासाद्वार से पूरक करें तथा सिर झुकाकर ठोड़ी को कंठ कूप से लगाकर कुम्भक करें तथा तत्पश्चात् सिर उठाकर बाँये नासाद्वार से रेचन करें। इस प्राणायाम से आप अपने को सामान्य पायेंगे।

ध्यान रखें सूर्य भेदी तथा चन्द्र भेदी प्राणायाम के बाद में 'केवली प्राणायाम' कम से कम सात बार अवश्य करें। केवली प्राणायाम करने से उच्च तथा निम्न रक्तचाप सामान्य हो जाते हैं। केवली प्राणायाम, अनुलोम–विलोम जैसा ही है। अन्तर केवल यह है कि इस प्राणायाम में कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं होती। अनुलोम–विलोम को नाड़ी शोधन प्राणायाम भी कहते हैं।

खाने–पीने की सावधानियाँ

रक्तचाप तथा हृदय से पीड़ित मनुष्यों को अपने खान–पान पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ऐसे व्यक्ति ज्यादा चिकनाई तथा मलाई वाली चीजों के सेवन से परहेज करें तो काफी हद तक स्वस्थ बने रह सकते हैं। नीबू पानी में थोड़ा शहद मिलाकर पीने से कोलेस्ट्रोल घुलकर निकल जाता है। अतः प्रातः खाली पेट एक गिलास पानी में एक या आधा नीबू निचोड़ कर तथा एक चम्मच शहद मिलाकर धीरे–धीरे पी जायें। नीबू तथा शहद काफी हद तक चिकनाई को घोलकर मूत्र के द्वारा बाहर निकाल देते हैं। फलस्वरूप उच्च रक्तचाप अपने सामान्य स्तर तक पहुँच जाता है। हृदय रोगियों के लिए तो नीबूपानी रामबाण है।

निम्न रक्त चाप से पीड़ित व्यक्ति को एक गिलास पानी में एक चम्मच चीनी या चुटकीभर नमक डालकर पीना सर्वोत्तम होता है। नमक से रक्तचाप बढ़ जाया करता है। बाजार में कैमिस्ट के पास ओ.आर.एस. पाउडर का एक चम्मच एक गिलास पानी में घोल बनाकर पीने से तुरन्त लाभ मिलता है। कॉफी या चाय पीना भी उस व्यक्ति को हितकर होता है। गर्म पानी में दोनों पैर रखने से भी निम्न रक्त चाप ठीक हो जाता है। प्रायः धूप स्नान भी लाभकारी पाया गया है।

आज कल उच्च रक्त चाप तथा निम्न रक्त चाप के रोगियों की संख्या में उत्तरोत्तर

वृद्धि हो रही है। प्रायः साठ प्रतिशत जनता रक्तचाप तथा हृदय रोगों से पीड़ित है। ऐसा खान-पान तथा रहन-सहन में आये बदलाव के कारण है। उपरोक्त विधियों से अगर प्राणायाम करेंगे तो अवश्य आशातीत सद्गुरु देव की कृपा से लाभ अर्जित करेंगे। ध्यान रहे प्राणायाम का अभ्यास योग्य गुरु के संरक्षण में ही करें। देखा-देखी अभ्यास करने से पूर्ण लाभ नहीं मिल पाता। किसी ने सच ही कहा है-

देखा देखी करे जो योग।
छीजे काया बढ़े रोग।।

श्री सद्गुरु चरणों में साष्टांग कोटिशः नमन।।

सर्वत्र भगवान् भरे हैं- सब कुछ भगवान् से परिपूर्ण है। अतः सभी तुम्हारे पूज्य हैं, सभी आदरणीय हैं, सभी सेव्य हैं और सभी अपने हैं। तुम यदि 'सदा सबके रूप में भगवान् हैं', यह विश्वास करोगे और यदि तुम्हारा विश्वास और दृढ़ हो जायेगा तो तुम्हें सब में निश्चय ही भगवान् दीखने लगेंगे। तुम ऐसा करके देखो। परंतु जब तक ऐसा न हो, तब तक आप्तवाक्यों पर विश्वास करके सब में भगवान् की भावना करो और सब के साथ नम्रता, विनय तथा सम्मानयुक्त व्यवहार करो; सबको सुख पहुँचाने का मनोरथ और प्रयास करो। बड़ी सावधानी से यह ध्यान रखो-तुम्हारे द्वारा जान-बूझकर किसी का भी जरा-सा भी अहित न हो जाय, किसी के भी हित और न्याय अधिकार पर तुम्हारे द्वारा जरा-सा भी आघात न पहुँच जाय।

महाभारत में योग विद्या

डा. राजकुमारी त्रिखा, नई दिल्ली

पातञ्जल योगसूत्र व महाभारत में सत्य का स्वरूप

भगवान् पतञ्जलि ने अष्टांगयोग के एक अंग 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को परिगणित किया है। इसी सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने सत्य का निरूपण करते हुए कहा है– सत्य का अर्थ है वाणी तथा मन की यथार्थता। अर्थात् जैसा हुआ हो, अनुमान किया हो, सुना हो, जैसे मन में विचार हों, वाणी से वही कहा जाये, तो वह वाणी सत्य कही जाती है। इसी को मन तथा वाणी की एकरूपता कहते हैं। अपने मन की बात समझाने के लिए जो वाणी बोली जाए, वह दूसरों को धोखा देने वाली न हो, विपरीत ज्ञान वाली न हो तथा अभीष्ट अभिप्राय अभिव्यक्त करने में समर्थ हो, वह सत्य कहलाती है।

यह बात एक दृष्टान्त द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाएगी। महाभारत युद्ध में द्रोणाचार्य को मारने के प्रसंग में एक षड्यन्त्र रचा गया। भीम ने अश्वत्थामा नामक हाथी को मार कर उद्घोष कर दिया, ''अश्वत्थामा मर गया।'' ढोल नगाड़े बजाये जाने लगे। द्रोणाचार्य को विश्वास नहीं हुआ तथा वे युधिष्ठिर के पास सत्यता का पता लगाने गये। वह समझते थे कि युधिष्ठिर असत्य भाषण नहीं करेंगे। परंतु श्रीकृष्ण व अन्य पाण्डवों के आग्रह पर युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य को कह दिया, ''अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरः।'' द्रोणाचार्य ने केवल अश्वत्थामा हतो शब्द ही सुने क्यों इसके बाद ढोल नगाड़े बजवा दिये गये तथा धीमे शब्दों में कहे गये आगे के शब्द द्रोण तक नहीं पहुँच पाये। इस प्रसंग में ध्यातव्य है, युधिष्ठिर के मन में तो भाव था कि अश्वत्थामा नामक हाथी मारा गया, परंतु उन्होंने ऐसी भ्रामक वाणी का प्रयोग किया कि द्रोणाचार्य के मन में उनके पुत्र अश्वत्थामा के मरने का ज्ञान उत्पन्न हुआ, अश्वत्थामा नामक हाथी के मरने का नहीं। अतः अपने अभिप्राय का वास्तविक बोध कराने में असमर्थ युधिष्ठिर के वचन असत्य थे। हमारी संस्कृति में मन, वचन तथा कर्म की एकरूपता को सज्जनता व प्रतीक मानी गई है। कहा भी है–

वचस्येकं मनस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

मन वचन तथा कर्म की एकता के अतिरिक्त, वाणी में और विशेषता भी होनी चाहिए। व्यासभाष्य के अनुसार वाणी सत्य होने के साथ–साथ सभी प्राणियों का उपकार करने वाली भी होनी चाहिए। यदि सत्य वचनों से किसी भी प्राणी का अनिष्ट होता है, तो वह वाणी सत्य नहीं है तथा उसके बोलने से पाप ही होगा। अहिंसा धर्म का पालन करते हुए ही सत्यभाषण करना

चाहिए। यदि सत्यभाषण से किसी दूसरे व्यक्ति को मानसिक, शारीरिक, आर्थिक अथवा अन्य किसी भी प्रकार का कष्ट होता है, तो वह सत्यवचन अहिंसाधर्म के पालन में बाधक होने के कारण सही अर्थों में सत्य नहीं है। ऐसी विषम परिस्थिति में वक्ता को यद्यपि सत्यभाषण में पुण्य का आभास ही क्यों न हो, परंतु वास्तव में उसे प्राणी को कष्ट देने के कारण पाप ही लगेगा। अत: सत्यभाषण भूतहितकारी होना चाहिए।

महाभारत में भी प्राय: सत्य शब्द का अर्थ सत्यभाषण से ही लिया गया है। कहीं-कहीं सृष्टि के शाश्वत तत्वों को भी सत्य कहा है। एक स्थान पर ब्रह्म, तप, प्रजापति, भूतों का उत्पत्ति स्थान तथा भूतमय जगत् को सत्य कहा है। सत्य से ही पृथ्वी व आकाश स्थिर हैं तथा मनुष्यलोक में अग्नि प्रज्वलित होती है। सूर्य को भी सत्य में प्रतिष्ठित माना गया है। एक स्थान पर अस्ताचल में सूर्य की स्थिति सत्य से ही बताई गई है। सत्य ही सबका आधार है। सत्य ही ब्रह्म व तप है। इसी से सृष्टि होती है। इस लोक में स्वर्ग लोक का निर्वाह सत्य से ही होता है। महाभारत में सत्य का विष्णुभगवान् के अनेक नामों में से एक नाम के रूप में भी परिगणन किया गया है।

परंतु अधिकांश स्थलों पर सत्य का तात्पर्य यथार्थ कथन से ही लिया गया है। सत्य का लक्षण देते हुए भीष्म पितामह कहते हैं– सदा एकरस, अविकारी तथा अविनाशी होना ही सत्य का लक्षण है। व्यासभाष्य के समान ही महाभारत में भी मन, वचन तथा कर्म की एकरूपता पर बहुत बल दिया गया है। जैसा सुना हो, देखा हो, किया हो, उसी प्रकार से उसको शब्दों से अभिव्यक्त करना सत्य है। सत्य को ही धर्म का प्रधान लक्षण माना गया है, क्योंकि सत्य द्वारा मनुष्य अनेक पापों से बच जाता है। परंतु यदि सत्य भाषण मन, वचन तथा कर्म की एकरूपता की अभिव्यक्ति नहीं करता, बल्कि छल प्रपंच से शब्दों को तोड़ मरोड़ कर बोला गया है, तो वह सत्य छलपूर्वक होने के कारण सत्य नहीं है। यदि सभा में किसी विशेष निर्णय पर पहुँचने के लिए प्रश्न पूछा जाए, तो उस सभा में उत्तर न देकर मौन रहने वाले सभासद् भी असत्य भाषण के आधे फल को प्राप्त करते हैं। अत: सत्य भाषण का तात्पर्य अपने मत का सही ढंग से स्पष्टीकरण है।

महाभारत में सत्य को धर्म का प्रधान अंग माना गया है। सत्य की अभिवृद्धि करने वाले और सत्य पालन में सहायता करने वाले तेरह धर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है... सत्य, समता, इन्द्रियसंयम, अमात्सर्य, क्षमा, ह्री, तितीक्षा, अनसूयता, त्याग ध्यान, आर्यत्व, धृति व अहिंसा, ये सभी सत्य को ही लक्षित कराने वाले हैं। ये सत्य का ही आश्रय लेते हैं तथा उसी की वृद्धि व पुष्टि करते हैं।

महाभारत में सत्यभाषण के अपवाद

यद्यपि महाभारत में सामान्य परिस्थितियों में सत्यभाषण का ही विधान किया गया है, परंतु प्राणी मात्र के कल्याण की भावना से, कुछ परिस्थितियों में असत्य भाषण का अथवा

सत्य न बोलकर मौन रहने का भी अनुमोदन किया गया है। क्योंकि ऐसे अवसरों पर सत्य कथन भूतोपघातकारक होने के कारण असत्य के समान पापजनक है, जबकि असत्यभाषण से भूतोपकार होने के कारण उस विशिष्ट समय पर किया गया असत्यभाषण, सत्य के समान पुण्यदायक है। इस प्रकार कुछ परिस्थितियों में यथार्थ कथन असत्य तथा असत्य कथन, सत्य के समान फलदायक हो जाता है।

महाभारत में ऐसी परिस्थितियों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, जिनमें असत्य भाषण, सत्य कथन के समान फलदायक होता है। भीष्म पितामह कहते हैं, जैसे कभी किसी धनी व्यक्ति के पीछे लुटेरे पड़े हों तथा उसका पता पूछते हों, तो उन्हें उस धनी का पता कदापि मत बताओ। पूछने पर भी मौन रहो। यदि न बोलने के कारण चोरों के मन में शंका हो जाए तो झूठ बोलना ही अधिक श्रेयस्कर है।

महाभारत में, जीवन में कुछ अन्य अवसरों पर भी मिथ्याभाषण पापरहित माना गया है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं, प्राण संकट आने पर, विवाह निश्चित करने के समय, धर्म रक्षा हेतु अथवा पराये धन की रक्षा के उद्देश्य से असत्य भाषण किया जा सकता है। वनपर्व में प्राण रक्षा करने व विवाह के समय असत्यवादन की अनुमति दी गई है, परंतु मुख्य उद्देश्य प्राणी मात्र का आत्यन्तिक कल्याण करना ही होना चाहिए। ऐसा भूतोपकारक असत्य प्राणियों का कल्याणकारक होने के कारण सत्यवचन के समान है। इसके विपरीत वचन असत्य हैं। जैसे विवाह के समय वर अथवा वधू का कोई नगण्य सा अवगुण छिपाकर विवाह करा देना असत्य नहीं माना गया है। कर्ण पर्व में भी विवाह–काल, रतिभोग के समय (प्रेयसी अथवा पत्नी से) असत्य वादन, प्राण संकट, सर्व धन के अपहरण समय अथवा ब्राह्मण की रक्षा हेतु असत्य वादन की अनुमति दी गई है। परंतु जहाँ अपने तथा पराये, दोनों के प्राण बचाने का अवसर उपस्थित हो, तो केवल अपने प्राण बचाने के निमित्त किया गया असत्यवादन वक्ता का नाश कर देता है। एक अन्य प्रसंग में निर्दोष प्राणी की रक्षा हेतु गवाही देते समय मिथ्याभाषी को पतित नहीं माना गया है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि भूतोपकारक असत्यभाषण भी सत्यभाषण के समान है। प्राणियों का आत्यन्तिक कल्याण ही ऐसे स्थलों पर असत्य वादन का मुख्य उद्देश्य है। एक अन्य प्रसंग में यहाँ तक कहा गया है कि गुरु की रक्षा हेतु तथा परिहास में हानि रहित होने के कारण असत्यवादन पातक नहीं है। इस प्रकार महाभारत में अहिंसा धर्म के पालनपूर्वक तथा भूतकल्याण की भावना से मिथ्या कथन का अनुमोदन भी किया गया है, जबकि व्यासभाष्य में केवल भूतोपकारक सत्य का विधान तथा भूतोपघातकारी सत्य का निषेध किया गया है। पतंजलि ने यम–विवेचन के पश्चात् अग्रिम सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा कि पांच यमों का पालन जाति, देश, काल तथा समय के अवच्छेद से रहित होना चाहिए। प्रत्येक समय में, प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक व्यक्ति के प्रति यदि यमों का सार्वभौमिक रूप से पालन

किया जाए, तो ये महाव्रत नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार भगवान पतंजलि के विचार से प्रत्येक परिस्थिति में यथार्थ कथन ही अभिप्रेत है। व्यासभाष्य के अनुसार जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, भूतोपकारक सत्य ही अभीष्ट है, भूतघाती सत्य नहीं। इससे ज्ञात होता है कि पंचयमों के पालन के नियमों तथा अपवादों पर व्यासभाष्य के रचनाकाल में विचार किया जाने लगा था।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में लिखा है कि अपने जीवन की बाजी लगाकर भी सत्य बोलना पड़े तो बोलना चाहिए, परंतु दूसरों को दुःख देने वाला सत्यभाषण नहीं करना चाहिए। यह कथन भी व्यासभाष्य से अनुप्रेरित है। इस प्रकार योगियों को सार्वभौम रूप से भूतोपकारी सत्य का पालन करना चाहिए, भूतहितकारी असत्यभाषण नहीं। सत्य एवं प्रिय भाषण का विधान तथा प्रिय असत्य का निषेध करते हुए मनु ने भी यही विचार प्रकट किया है।

महाभारत में भी यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में सत्यभाषण का ही विधान किया गया है, परंतु साधारण सामाजिक व्यक्ति जीवन में विषम परिस्थितियों से घिर कर अपवादरूप से असत्य भाषण भी कर सकते हैं। सत्य के स्वरूप विवेचन के संदर्भ में महाभारत का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महाभारत में ही इस अपवाद का कारण भी दिया है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वेदों में सभी धर्मों का प्रतिपादन नहीं किया गया है। वेदों में, आपद्धर्म के ... गार सत्यभाषण के अपवाद मूल परिस्थितियों में असत्य कथन का विधान नहीं है, जबकि म... भारत में कहा गया है कि परिस्थिति के अनुसार सत्य भाषण तथा असत्यभाषण के औचित्य का निर्णय लेना अत्यन्त कठिन है, तथा जो उचित निर्णय ले ले, वही धर्मज्ञ है। इसका कारण यही है कि किन्हीं परिस्थितियों में सत्यभाषण असत्य के समान ही पापदायक व हानिकारक बन जाता है तथा कहीं असत्य कथन भी सत्य के समान बन जाता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में सत्य की अवधारणा का यह सैद्धान्तिक विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यदि उन स्थलों का सूक्ष्मेक्षिकया अध्ययन किया जाए, जहाँ पर असत्य भाषण का अपवाद रूप में विधान है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत, कौरव तथा पाण्डव वीरों की युद्धगाथा होने के कारण यथार्थ के धरातल को अधिक स्पर्श करता है। ऐसे प्रसंगों में युधिष्ठिर को युद्ध के लिए अथवा राजधर्म के पालन हेतु प्रेरित करना ही प्रमुख उद्देश्य है। अन्यथा सत्य का पालन ही महाभारतकार को अभीष्ट है। एक स्थान पर तो यहां तक कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणों पर संकट आने पर भी सत्य भाषण ही करते हैं, वे सब प्राणियों के लिए आदर्श के समान हैं, तथा वे कठिन दुःखों को भी पार कर लेते हैं।

सत्य प्रशंसा

महाभारत में विधि तथा अर्थवाद द्वारा सत्य की अनेक प्रकार से प्रशंसा की गई है। सत्य ही समस्त धर्मों का सार है। अखिल ब्रह्माण्ड सत्य पर ही टिका हुआ है। कहीं–कहीं सत्यभाषण को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, तो कहीं उसे वेदाध्ययन से भी अधिक महान् व उसका

सार कहा है। सत्य ही अहिंसा का आधार व अहिंसा धर्म के पालन में सहायक है। सत्य के समान तप नहीं है। सत्य से पावन इस जगत् में कुछ नहीं है। वही स्वर्ग में जाने की सीढ़ी है। सत्य भाषण से बढ़कर पुण्य नहीं है तथा झूठ बोलने से बढ़कर पाप नहीं है। सत्य पर ही सब धर्म टिके हुए हैं। सत्य से बढ़कर न ही दान है, न ही तप है। सत्य के महात्म्य का वर्णन करते हुए भीष्म पितामह युधिष्ठिर को कहते हैं– सम्पूर्ण वेदों को धारण करना और समस्त तीर्थों में स्नान करना, इन सत्कर्मों का पुण्य सदा सत्य बोलने वाले पुरुष के बराबर है अथवा नहीं, इसमें सन्देह है। अर्थात् इनसे सत्य ही श्रेष्ठ है। यदि तराजू के एक पलड़े पर एक हजार अश्वमेध यज्ञों का पुण्य और दूसरे पलड़े पर केवल सत्य रखा जाए तो, सत्य का ही पलड़ा भारी रहेगा। इसलिए सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है। सत्यवक्ता मनुष्य स्वर्ग लोक में आनन्द भोगते हैं किंतु इन्द्रियसंयम उस सत्य के फल की प्राप्ति में कारण है।

मन्त्रजपपरायण कौशिक ब्राह्मण ने एक राजा को सत्य का महत्व इस प्रकार बतलाया– मैंने सुना है किसी समय धर्म व सत्य को तराजू पर तोला गया। उस समय सत्य का ही पलड़ा भारी हुआ।

इस प्रकार महाभारत में अनेक प्रकार से सत्य की प्रशंसा की गई है। राजाओं के जीवन में सत्य का महत्व विशेष रूप से है क्योंकि सत्यपालन द्वारा ही वे प्रजा का विश्वास प्राप्त कर सकते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि उनकी सेवा अमुक वस्तु से ही हो सकती है। तुम्हारे पास जो कुछ भी मन, तन, बुद्धि, धन, विद्या शक्ति आदि है–उसी के द्वारा उनकी सेवा करो। वे जिस–जिस रूप में जो–जो चाहते हैं, उस–उस चाह के अनुरूप तुम्हारे पास जो–जो वस्तुएँ हैं, केवल उन्हीं के द्वारा उनकी सेवा करो। पर असल बात तो यह है कि उन वस्तुओं को मानो उन्हीं की और उनका सदुपयोग करो उनकी सेवा में ही। यही तुम्हारे सारे बन्धनों को तुरंत काटने वाला और भगवान् को तुम्हारे साथ नित्य बँधे रहने के लिए बाध्य करने वाला 'प्रेम' है।

कामाख्या की यात्रा में सत्संग लाभ

डा. विजय सिंह

ट्रेन जंगल के बीच काफी देर से रुकी है। किसी ने बताया पटरी पर पेड़ गिरा है। दोनों ओर पटरी के घना जंगल फैला हुआ था। मैंने बातचीत को बढ़ाते हुए उनसे कहा– योग बनी के जंगलों में हमारे परमाराध्य योगेश्वर श्री महाप्रभु रामलाल जी एक योग साधक विरक्त महात्मा को आविर्भूत होकर कृपा किया था और बोले आगे कभी हमारे शिष्य के दर्शन तुम्हें नेपाल में होंगे उससे कृपा प्रसाद ले लेना। यह घटना 1952 ई. की थी। काल व्यतीत होता गया सन् 1968 में भारत के राजदूत जो नेपाल में थे, वे मेरे सद्गुरु के अनुरक्त भक्तों में थे। उन्होंने सद्गुरु भगवान को नेपाल काठमाण्डू आमंत्रित किया। श्री सद्गुरु भगवान अपने अनेक ब्रह्मचारियों एवं श्रीमंत शिष्यों के साथ नेपाल गये। गोशाला धर्मशाला में श्री सद्गुरु जी के साथ गये सत्संगी निवास किये। एक दिन बागमति की धारा के किनारे–किनारे भ्रमण करते हुए सद्गुरु भगवान एवं सभी पहाड़ पर ऊपर की ओर चलते जा रहे थे। पहाड़ी पगडंडी पर संभल कर लोग चल रहे थे। तभी लोगों ने देखा एक जटा जूट वेष्ठित नग्न महात्मा रास्ते में प्रकट हो वीरासन से करबद्ध प्रणाम करता बैठा है। श्री सतगुरु जी छड़ी टेक कर थोड़ा झुक कर बोले–महात्मन्! क्या बात है? अत्यन्त श्रद्धावनत हो महात्मा ने कहा– प्रभो! प्रसाद चाहिए। श्री सद्गुरु जी ने कहा– धर्मशाला आ जाना वहीं प्रसाद दूंगा।

वह महात्मा पहाड़ी के ढाल पर द्रुत गति से नीचे उतरता हुआ वृक्षों के ओट में अदृश्य हो गया। श्री सद्गुरु जी पुन: ऊपर सभी के साथ मंथर गति से भ्रमण करके थोड़ी देर बाद लौटकर निवास स्थल पर आ गये। दिन में दूतावास की कई गाड़ियाँ आ जाती और सभी को काठमाण्डू के चर्चित दर्शनीय स्थलों को दिखाने ले जाती। श्री सद्गुरु सानिध्य में भ्रमण का एक अनोखा आनन्द मिलता रहा है।

उसी दिन रात्रि को जब आरती समाप्त हुई, लोग श्री सद्गुरु भगवान द्वारा दिये जा रहे प्रसाद को लेकर प्रणाम करके लौटे तो देखा हाल में सबसे पीछे वही महात्मा करबद्ध खड़े हैं। महात्मन्! आइये, श्री सद्गुरु जी ने उन्हें आदर पूर्वक प्रसाद देने के लिए पास बुलाया और मिठाई का एक डिब्बा उनकी ओर बढ़ाया। महात्मा पीछे दो कदम हट कर बोले यह प्रसाद नहीं। हमें तो पुष्प प्रसाद दीजिए। जो आप कृपा कर अपने शिष्यों को देते हैं।

ब्र. हरिभक्त चैतन्य श्री सद्गुरु के प्रिय शिष्यों में से वहाँ मौजूद थे। उन्होंने कहा– महात्मा जी! जिस स्वरूप की अभी हम लोगों ने आरती की है क्या आप उनका नाम जानते हैं। महात्मा उनकी ओर उपेक्षा से देखकर बोले–जानता हूँ। विनोद प्रिय सद्गुरु देव जी ने हँसते

हुए कहा–भला! फिर नाम बताते क्यों नहीं? विनम्रता पूर्वक महात्मा ने कहा कि प्रभो! जिस समय योगवनी में साधना कर रहा था सन् 1952 में एक दिन ज्योतिर्मय ज्योति से योगियों के परमाश्रय श्री महाप्रभु रामलाल जी प्रकट होकर मुझे कृतार्थ किया और साधना के उच्च सोपान पर प्रतिष्ठित कर बोले आगे जब हमारा बच्चा (श्री सद्गुरु भगवान का नाम लेकर) नेपाल आयेगा तो उससे प्रसाद माँगना। उससे तुम्हारा सर्व मनोरथ पूर्ण होगा। सभी सत्संगी इस प्रत्यक्ष दिव्य घटना से आवाविर्भूत हो रहे थे। तभी सद्गुरु भगवान ने गुलाब की पंखुड़ियों में कृपाशक्ति संचारित कर उस महात्मा को दिये। वह ग्रहण कर जब लौटने को हुआ तब पुनः लीलाधारी सद्गुरु जेब से कुछ नोट निकाल कर महात्मा को दिये वह नहीं ले रहे थे परंतु श्री सद्गुरु जी ने कहा रख लो काम देगा। महात्मा नोटों को लेकर उल्टे पैर हाल के पीछे लौटे और बार–बार प्रणाम करके सीढ़ियों से नीचे उतर कर कहाँ अदृश्य हुए पता नहीं चला। क्योंकि भोजनालय के ब्रह्मचारी को श्री प्रभु जी ने कहा देखो महात्मा को रोक कर भोजन करा देना। परंतु ब्रह्मचारी द्रुति गति से पीछा किये। सीढ़ियों पर उतरता देखा। परंतु पीछे से आवाज देने के पूर्व ही महात्मा अदृश्य हो गये।

महानुभाव परिपूर्ण एकाग्रता से मेरे इस कथोप–कथन को सुनकर भाव विभोर हो रहे थे। थोड़े अन्तराल से बोले– योगियों की लीला वैचित्र्य अचिन्तनीय हुआ करती है। योगेश्वर की तो बात ही क्या कहना।

मन की गति है अटपटी, गुरु बिन लखे न कोय।
जो मन की खटपट मिटे, चटपट दर्शन होय।।

सद्गुरु साधक की साधना में आने वाले रुकावटों को देखकर उसके निवारण हेतु उपाय कर देते हैं। जैसे आपने योगवनी वाले महात्मा की घटना बताई। 1952 में सद्गुरु कृपा आपके दादा गुरुदेव के नाम रूप से और पुनः सन् 1962 में आपके गुरुदेव के नाम रूप से उस महात्मा को कृपा प्रसाद मिला। सब सद्गुरु सत्ता एक ही परम सत्ता है। उस गुरु तत्व का अवतरण देश कालानुसार नाना नाम–रूपों में हुआ करता है। अपने संस्कारी आत्माओं को योगरुढ़ कराने हेतु। भवसागर से ठीक–ठीक पार लग जावें।

मैंने उनकी बातों का अनुमोदन किया। मौन थोड़ी देर हम दोनों के बीच व्याप्त रहा।

थोड़ी देर बाद मैंने पूछा– भला यह योग की सिद्धी कब पूर्णता से प्राप्त होता है? क्योंकि स्वयं जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को आदेश देते हुए कहते हैं ''तस्माद्योगी भवार्जुन''। हे अर्जुन योगी बन। हमने कहा– एक जगह उद्धव को उपदेश देते हुए योगीश्वर श्री कृष्ण ने कहा है–

अपरमता पयान योगी। जगत उत्पत्ति नाशनो भवति। श्रीमान् ईश्वरोत्तर यथेव ही।

अर्थात्– पूर्ण योगी संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय करने में समर्थवान हैं और वह

ईश्वर ने ईश्वर रूप ही है। वह मेरा ही स्वरूप है।

महानुभाव प्रमुदित भाव से मुझे देखते हुए बोले– यह सब सच तो है ही।

मैंने बात का विस्तार करते हुए कहा– मेरे सद्‌गुरु देव जी कहा करते थे। हिमालय में ऐसे योगी हैं जो अपने संकल्प से स्वयं की सृष्टि रच कर समाधि में लीन रहते हैं। सैंकड़ों वर्षों में समाधि से उठने पर उस सृष्टि को अपने में समाहित कर लेते हैं। वे अपने सृष्टि में स्त्री पुरुष, फल–फूल सभी कुछ ब्राह्मी सृष्टि से भिन्न रचते हैं। उनकी रचना जरा–मृत्यु, रोग–शोक से रहित होती हैं।

श्री सद्‌गुरु भगवान ऋषियों का कथन कहते–

यस्मिन देशे यसेद्योगी, ध्यान योग विचक्षणः।

सो अपि देशो भवेत पूतः, किम् पुनः तत्बान्धवाः।।

बड़ी तन्मयता से महानुभाव हमारे द्वारा श्री सद्‌गुरु महिमा एवं योग की महत्ता को सुनते रहे। सोचते हुए बोले–योगेश्वरों के कृपा संचार का रहस्य कुण्डलिनी जागरण से है। ऐसा मुझे विश्वास है कि सद्‌गुरु कृपा से उन पराजगदम्बा आद्या शक्ति कुल कुण्डलिनी आप के अन्दर प्रसन्न हैं। मैंने पूछा– तत्वतः यह शक्ति शरीर में क्या है? उन्होंने कहा– पराजीवनी शक्ति ही कुण्डलिनी है। एक तरह से प्राण शक्ति को ही जीवनी शक्ति कहते हैं। प्राण शक्ति के केन्द्रीभूत शक्ति को ही कुण्डलिनी कहा गया है। श्री सद्‌गुरु की कृपा से, हठयोग से, भाव योग से, मंत्र योग से जब यह सुषम्णा नाड़ी में प्रवेश कर ऊर्ध्व गति होती है। षट चक्र भेदन करते हुए मस्तिष्क स्थित सहस्त्रार में ले जाये पर प्रकृति जयता, अणमादिक सिद्धियाँ, काल जयता के साथ ब्रह्म ऐक्यता के साथ, योग सिद्धि प्राप्त होता है।

ब्रह्माण्ड में जो आद्या शक्ति का दृश्य प्रपञ्च फैला हुआ है उसी प्रकार वही आद्या शक्ति कुण्डलिनी रूप में व्यष्टि के अन्दर मूलाधार में विराजमान है। सर्व साधारण में यह शक्ति सुषुप्त रहा करती है। सद्‌गुरु कृपा एवं साधना से जाग्रत होकर यह चक्रों का भेदन करती है। ज्यों–ज्यों चक्र भेदन साधक करता है। उसे पंच महाभूतों का साक्षात्कार तथा संयम द्वारा अधिकार प्राप्त होता है।

समष्टि में यह शक्ति ब्रह्म में लीन रहती है। तब यह पराशक्ति नाम वाली है। इस शक्ति के चलन–कलन से ब्रह्म, विष्णु, रुद्र एवं इनकी शक्तियों का रूप जगत की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय किया करती है। सत्व, रज एवं तम ये तीन गुणों से प्रभावित प्रकृति भी इसी शक्ति के कारण है।

थोड़े देर मौन रहकर वे मुझे तन्मयता से सुनते देखकर पुनः बोले– सतोगुण की अधिकता मनुष्य शुभ कर्म धर्म पुण्यार्जन आदि करता है जिससे उसे सुख ऐश्वर्य तथा उत्तम स्वर्गादिक लोक की प्राप्ति होती है। परंतु यह सुख भी स्वर्ण की बेड़ियाँ हैं। यह भी बन्धन का

ही कारक है। स्वर्ग में भी दूसरों का अधिक ऐश्वर्य देखकर जीव मानस दुख से कातर हो उठता है।

रजोगुण के प्रभाव से व्यक्ति लोभ, मोह, विषय वासनाओं में पड़कर महाअन्ध प्रमाद से घिरकर मृत्यु के समय कष्ट को प्राप्त होता है। इससे भी घोर दशा तमोगुणी जीवों का होता है। अज्ञान से आच्छादित वह दुःख रूप ही होता है। ट्रेन किसी स्टेशन के प्लेटफार्म पर रुकी। इससे वार्तालाप में थोड़ा व्यवधान हुआ।

(क्रमश:)

राग और द्वेष

राग और द्वेष मनुष्य के बहुत बड़े शत्रु हैं, जो प्रत्येक इन्द्रिय के प्रत्येक विषय में स्थित रहकर तुम्हारे जीवन संगी बने तुम्हारे परम अर्थ को निरन्तर लूट रहे हैं। राग-द्वेष से ही काम-क्रोध की उत्पत्ति होती है, जो समस्त पापों के मूल हैं।

जिसके मन में भोग कामना है, वह कभी सच्चे अर्थ में सुखी नहीं हो सकता। कामना की पूर्ति में एक बार सुख की लहर-सी आती है, पर कामना ऐसी अग्नि है, जो प्रत्येक अनुकूल भोग को आहुति बनाकर अपना कलेवर बढ़ाती रहती है। जितनी-जितनी कामना की पूर्ति होती है, उतनी-उतनी कामना अधिक बढ़ती है। कामना अभाव की स्थिति का अनुभव कराती है और जहाँ अभाव है, वहीं प्रतिकूलता है एवं प्रतिकूलता ही दुःख है। अतएव कामना कभी पूर्ण होती ही नहीं, इसलिए मनुष्य कभी दुःख से मुक्त हो ही नहीं सकता। कामना बड़े-से-बड़े समृद्धिमान् वैभवशाली पुरुष को भी दीन बना देती है। कामना बड़े-से-बड़े विचारक तथा बुद्धिमान् पुरुष के मन में भी अशान्ति का तूफान खड़ा कर देती है। कामना की आपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध होता है, जो मनुष्य को विवेकशून्य बनाकर उसे सर्वनाश के पथ पर तेजी से आगे बढ़ाता है। इसलिए इन काम-क्रोध के मूल राग-द्वेष का त्याग करो।

यदि राग-द्वेष का त्याग न हो तो उनके विषयों को तो अवश्य बदल डालो। राग करो श्री भगवान् में, उनके स्वरूप-गुण-लीला में, उनके नाम में और उनमें आत्मसमर्पित उनके भक्तों में तथा द्वेष करो अपने दुर्गुणों में, दुर्विचारों में, बुरे कामों में, पापों में, अन्तःकरण की बुरी वृत्तियों में, भोगासक्ति में और विषय-सुख की कामना में। बस, फिर ये राग-द्वेष ही तुम्हारे परम अर्थ के- आध्यात्मिक सम्पत्ति के रक्षक और पोषक बन जायेंगे। अग्नि से घर में आग लगकर सब कुछ भस्म हो जाता है और अग्नि से ही यज्ञ-कर्म सम्पन्न होने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

भगवान् में राग होने पर भगवद्विरोधी अपने तन-मन के कार्यों में द्वेष होगा ही। जिनमें द्वेष होता है, वे बुरे लगते हैं और मनुष्य उनका विनाश चाहता है। अतएव भगवान् में उत्पन्न राग स्वभावतः ही शरीर तथा मन से होने वाले दुष्कर्म तथा दुष्ट विचारों का नाश कर देता है। भगवान् में राग ही परम दुर्लभ भगवत्प्रेम है और पापों में द्वेष ही सच्चा वैराग्ययुक्त परम साधन है।

अष्टाङ्ग योग

डॉ. ऋषिराम शर्मा, लखनऊ

साधनयोग (राजमार्ग) का संक्षिप्त वर्णन

परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान ने एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण बात कही है कि

स्वभावजेन तु कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्ये अवशोऽपि तत्।।

अर्थात् जीवात्मा अपने अन्तःकरण में संचित तथा प्रारब्धकर्मों के संस्कारों के आधीन होता है। इन संस्कारों से बुद्धि तथा मन का स्वभाव निर्मित होता है तथा स्वभाव से उत्पन्न गुणों का प्रवाह चलता है। इसलिए अज्ञानवश अपने अहंकार का आश्रय लेकर जीवात्मा हठपूर्वक किसी स्वभावज कार्य को नहीं भी करना चाहे तब भी वह अपने प्रारब्ध के आधीन स्वभावज कर्म करने के लिए विवश हो जायेगा। इसकी पुष्टि के लिए मुझे अपने गुरुदेव के मुखारविन्द से सुनी हुई एक घटना याद आ गई। गुरुदेव का भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप में स्वभाविक प्रेम था। अतः महाप्रभु जी उन्हें वृन्दावन–भ्रमण के लिए भेज देते थे। वृन्दावन के निवास–काल में गुरुदेव जी को एक पूर्णवैराग्यवान शुद्ध अन्तःकरण वाला मित्र मिला। महाप्रभु जी के चरित्रों को सुन–सुन कर वह मित्र गुरुदेव से प्रार्थना करने लगा कि उसे भी महाप्रभु जी से गुरुदीक्षा दिला दो। गुरुदेव ने महाप्रभु जी से उसे ऋषिकेश लाने की आज्ञा मांगी किंतु महाप्रभु जी की आज्ञा नहीं मिली। ऐसा कई बार प्रयत्न किया गया किंतु आज्ञा नहीं मिली। तब मोहवश आज्ञा के बिना ही अपने मित्र को महाप्रभु जी के चरणों में ऋषिकेश ले जाने का दिन निश्चय कर लिया। उस दिन नित्यप्रति की तरह प्रातः बांकेबिहारी जी के मन्दिर में आरती में सम्मिलित हुए, किंतु आरती के बाद मित्र ध्यानस्थ हो गया और शाम तक ध्यानस्थ रहा। जब ध्यान टूटा तब ऋषिकेश जाने से मना कर दिया तथा अपना अनुभव बताया कि जब मैं आरती में भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति को देख रहा था तब मेरे सिर पर किसी के हाथ का स्पर्श हुआ और मुझे भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति सजीव दिखाई देने लगी तथा उसके बाद सुबह से शाम तक मुझे ध्यान में श्रीकृष्ण की लीलायें दिखाई देती रहीं। इसके उपरान्त जब गुरुदेव ऋषिकेश पहुंचे तब गुरुदेव ने महाप्रभु जी से पूछा कि प्रभो आपने हमें अपने मित्र को आपके चरणों में लाने की आज्ञा क्यों नहीं दी। तब महाप्रभु जी ने कहा कि हमने उसे उसके स्वभाव के अनुकूल मार्ग पर लगा दिया। इस सत्य घटना को बताने का तात्पर्य यही है कि अपने स्वभाव तथा श्रद्धा के अनुकूल मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर होता है। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने भी इस

रहस्य की पुष्टि की है कि–

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजयेत्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।

अर्थात् स्वाभाविक गुणों के अनुकूल कर्म दोषपूर्ण भी हो तब भी उसे नहीं त्यागना चाहिए। उसका प्रमुख कारण यह है कि स्वभाव के अनुकूल कर्म अहंकार रहित तथा फलासक्ति के दोष से मुक्त होने के कारण अन्तःकरण की शुद्धि करता है तथा वृत्तिनिरोध की साधना में सहायक होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है कि –

सत्वानुरुपा हि सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यत् श्रद्धा स एव सः।।
त्रिविद्या भवति श्रद्धा प्राणिनां सा स्वभजा।
सत्विकी राजसी चैव तामसी चेता तां श्रुणु।।

अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा में उसके अन्तःकरण में जागृत संस्कारों के आधीन ही उसकी श्रद्धा होती है। अतः श्रद्धा ही उसकी वास्तविक पहचान होती है। परमात्मा की योगमाया से प्रेरित तीन गुणों के आधीन ही श्रद्धा का उदय होता है। अतः श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है – सात्विकी श्रद्धा, राजसी श्रद्धा तथा तामसी श्रद्धा। जिसकी जैसी श्रद्धा है, उसका पुरुषार्थ, उसका आचरण तथा उसकी साधना भी उसी के अनुसार फलीभूत होती है। श्रद्धा से ही संकल्पों का उदय होता है तथा संकल्पों के आधीन ही जीवात्मा की गति होती है। हमारे उपनिषद इसकी पुष्टि करते हैं कि –

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः यथा क्रतुरस्ति लोके पुरुषो भवति।
तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत, मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः।।

(छान्दो. 3/14/1,2)

अर्थात् जीवात्मा निश्चित ही संकल्पमय है, जैसा उसका संकल्प यानि भावना होती है, वह संसार में वैसा ही आचरण करता है। मृत्यु के पश्चात् भी उसकी अन्य लोकों में गति उसके संकल्प की आधीन ही होती है। उसका भौतिक शरीर तो नष्ट हो जाता है, किंतु मनोमय सूक्ष्म शरीर, प्राण तथा आत्मतेज के साथ गमन करता है। जीवात्मा की शरीरों से जो एकात्मता है, वही बन्धन का कारण है तथा जैसे ही तीनों शरीरों से प्रथकता का तथा सच्चिदानन्द स्वरूप में लयता का अनुभव होता है वैसे ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए महामुनि अष्टावक्र जी कहते हैं कि –

यदि देहं प्रथक्कृत चिदि विश्रम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि।।

अर्थात् जब योगी समाधिस्थ होकर अपनी चेतनशक्ति को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से प्रथक अनुभव करता है और स्वयं को सर्वाधार तथा सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप में अनुभव करता है, तब वह उसी क्षण परम सुखी, परम शान्त तथा मायिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी अवस्था को मोक्ष की संज्ञा दी गयी है, इसी अवस्था को परमात्मस्वरूप की प्राप्ति कहा गया है और यही अध्यात्मसिद्धि है।

यदि मैं गणितीय सूत्र को $S=S_1S_2S_3$ के रूप में लिखू तो

$$S_1=I+RY(R-1)(g+G)\exp(Dg(O+R+I))$$

इसमें प्रयुक्त अवयवों का परिचय तो हम पूर्व में दे चुके हैं। यहाँ पर इस मार्ग में उनके योगदान का वर्णन करेंगे और यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि इस मार्ग पर चलने से कैसे अन्तिम लक्ष्य की तरफ अग्रिम यात्रा करते हैं, मार्ग में कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ता है और उन बाधाओं को पार करते हुए कैसे लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं। प्रत्येक मार्ग में अन्य दो शेष मार्गों का महत्वपूर्ण योगदान सन्निहित है। एक और महत्वपूर्ण बात है कि आध्यात्मिक सिद्धि का अर्थ है कि अपने आत्मस्वरूप का तीनों प्रकृतिजनित स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर से पृथक अनुभव करना, क्योंकि अज्ञानावस्था में सर्वव्यापक आत्मा की इन तीनों से अस्मिताक्लेश के प्रभाव में एकात्मता बनी रहती है। शास्त्र का प्रमाण है कि –

''दृष्ट्रदर्शनशक्त्योः एकात्मतास्मिता'' (योगदर्शन 2)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुन्जानं वा गुणन्वितम्।
विमूढा: नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुसा:।।

(गीता 15/10)

अर्थात् दृष्टा (परमात्मा) तथा प्रकृति की दर्शनशक्तियाँ बुद्धि, मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के मध्य एकात्मता का सम्बन्ध है। अत: शरीरों के माध्यम से जो भी अनुभव तथा ज्ञान संसार के विषय में होता है, वह सबका सब सम्पूर्णरूप से आत्मा में प्रतीत होता है ठीक उसी तरह जिस तरह रंगीन तथा चित्रित माध्यम पर रखी हुई स्फटिक पारदर्शी मणि में माध्यम के रंग तथा चित्र दिखाई देते हैं। यह भ्रान्तिजनित ज्ञान है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब जीवात्मा शरीर का त्याग करती है, अथवा शरीर में निवास करती है अथवा प्रकृति के विषयभोगों को भोगती है अथवा गुणों के प्रभाव में कर्म करती है तब अज्ञान के कारण यह नहीं समझ पाती है कि यह सब कार्य प्रकृति के द्वारा किये जा रहे हैं, वह तो अहंकृति के आवरण में स्वयं को ही कर्त्ता, भोक्ता तथा मृत्यु का ग्रास समझती है। आध्यात्मिक सिद्धि के द्वारा ज्ञानचक्षु प्राप्त होने पर ही पता चलता है कि यह सब भ्रान्तिजनित ज्ञान है अन्यथा आत्मा तो अजर, अमर, सर्वव्याप्त, अविनाशी सच्चिदानन्द परमात्मा का ही स्वरूप है।

आप सोचेंगे कि S_1, S_2 तथा S_3 को S के गुणनखण्डों के रूप में क्यों दर्शाया गया है।

इसका समाधान यह है कि यह तीनों मार्ग स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक मार्ग किसी न किसी रूप में शेष मार्गों का सहायक है और तीनों के परस्पर सहयोग से ही अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि सूत्र के अवयवों की प्रत्येक मार्ग में यथास्थान उपस्थिति दर्शित है। इसकी पुष्टि भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से करते हैं कि योग के बिना ज्ञान तथा ज्ञान के बिना योग सम्भव नहीं होता, क्योंकि–

सन्यासस्तु महावाहो दु:खमाप्तुम् अयोगत:।
योगयुक्तो मुनि: ब्रह्म नाचिरेणाधिगच्छति।। (गीता 5/6)
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंशिद्ध: कालेनात्मनि विन्दति।। (गीता 4/38)
यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तदयोगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं योगं च य: पश्यति स: पश्यति।। (गीता 5/5)
यं सन्यासमिति प्राहु: योगं तं विद्धि पांडव।
न हयसन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन:।। (गीता 6/2)
साँख्ययोगी प्रथग्वाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकं अपि आस्थित: सम्पयक् उभयो: विन्दते फलम्।। (गीता 5/4)

अर्थात् परमात्मा का यही संदेश है कि योगसाधना के बिना ज्ञानमार्ग की सिद्धि संभव नहीं है, क्योंकि समस्त संकल्प–विकल्पों का त्यागरूप सन्यास योगानुभूति के बिना सम्भव नहीं। कारण यही है कि चित्त एक क्षण भी चिन्तन तथा संकल्पों तथा विकल्पों से मुक्त नहीं होता। विषयों में आसक्त मन विषयों का चिन्तन करने के लिए बाध्य है। जैसे वायु के वेग को रोकना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही मन की गति को रोकना उससे भी अत्यन्त कठिन है। केवल श्रद्धाभक्तिपूर्वक चिरकाल की साधना तथा योगानुभूतियों से उत्पन्न वैराग्य के असंगशास्त्र के द्वारा ही यह चित्त उपरामता को प्राप्त कर परमात्मा में समाहित होता है। यह संसार गुणात्मक माया का भ्रान्तिजन्य मायाजाल है और यह मायाजाल केवल आत्मज्ञान के शस्त्र से ही काटा जा सकता है। इसीलिए आत्मज्ञान ही परमपवित्र सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, किंतु यह ज्ञान योगसिद्धि के बाद ही प्राप्त होता है। यह भी सत्य है कि सर्वसंकल्पसन्यास के बिना कोई योगी नहीं बन सकता। अत: विद्वानों की दृष्टि में योग तथा ज्ञान दोनों ही आत्मज्ञान यानि परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। इसीलिए किसी भी मार्ग पर चलते हुए सभी मार्गों का फल प्राप्त हो जाता है। गुरुकृपा तथा परमात्मा की कृपा की वृष्टि तो सभी मार्गों पर सुखदायी, शक्तिदायिनी तथा तीव्र प्रगतिदायिनी है जिसके बिना न तो मार्ग प्रशस्त होता है और न गन्तव्य स्थान। इसका कारण यही है कि यह सृष्टि परमात्मा की लीला है। शास्त्र का प्रमाण है कि –

"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्रह्मसूत्र 2/1/32)

"परात्तु तच्छ्रुतेः" (ब्रह्मसूत्र 2/3/41)

अर्थात् लोकलीलाओं की भांति यह सृष्टि भी परमात्मा की लीलामात्र है। इसीलिए श्रुति के अनुसार जीवात्मा को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व परमात्मा की प्रकृति से प्राप्त हुआ है। अतः यह संसार परमात्मा की माया है और परमात्मा उसका मायावी है। इसी सत्य को दर्शाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि–

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी

अर्थात मेरी इस त्रिगुणात्मिका माया के मोहबन्धन से मुक्ति पाना अत्यन्त कठिन है। इस बन्धन से वही मुक्ति पा सकते हैं जो अपने मन, बुद्धि तथा अहंकार को मुझे समर्पित कर देते हैं। ज्ञानमार्ग का ज्ञान तथा विज्ञान भी परमात्मा की अनुकम्पा का परिणाम है, क्योंकि –

तेषामेव अनुकम्पार्थ अहं अज्ञानजं तमः।
नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।

अर्थात् योग साधना द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण वालों पर तथा अनन्यभक्तिसम्पन्न जीवात्माओं पर अनुकम्पा करते हुए परमात्मा ही उनके हृदय में भावरूप में प्रकाशवान होकर ज्ञानज्योति प्रकट करते हैं। यही परम सत्य है। आवश्यकता है योगसाधना के द्वारा चित्त शुद्धि की अथवा अनन्यभक्तियोग की अथवा ज्ञान तथा विज्ञान से तृप्तात्मा बनने की।

अब मैं यह समझाने का प्रयत्न करूंगा कि योगसाधना के द्वारा कैसे चित्तशुद्धि होती है तथा कैसे परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है? जीवभाव का मूल कारण क्षेत्रज्ञ में क्षेत्र के गुणों का आभास होना है। इसी आभास के परिणामस्वरूप चित्तरूपी दर्पण पर परमात्मा की योगमाया के पंच क्लेश यानि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश के द्वारा उत्पन्न चित्तवृत्तियों का कठोर तथा घना आवरण आच्छादित है। इसी आवरण में से परमात्मा का प्रकाश जीवात्मा के रूप में चित्तवृत्तियों के संसार का निर्माण करता है। इस रहस्य को जो जान लेता है, वही आध्यात्मिक सिद्धि का अधिकारी होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने इसी रहस्य का संकेत दिया है कि –

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवं अन्तरं ज्ञानचक्षुसा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुः यान्ति ते परम्।।

(गीता 13/)

अर्थात् जब जीवात्मा समाधिस्थ होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानचक्षु प्राप्त कर

क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेती है तब वह जीवभाव से मुक्त होकर परमपद यानि आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त कर लेती है। महर्षि पतंजलि ने भी यही संकेत दिया है कि –

''सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रेण सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च'' (योगदर्शन 4/)

अर्थात् अन्तःकरण तथा पुरुष के भेदज्ञान होते ही सभी मायिक गुणविकारों पर पूर्ण अधिकार तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। यही परमात्मभाव की प्राप्ति है। भगवान श्रीकृष्ण पुनः इसी ज्ञान का संकेत देते हैं कि

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गे अपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथयन्ति च॥

(गीता 14)

अर्थात् जीवात्मा इस ज्ञान को प्राप्त कर परमात्मभाव में आ जाती है और तब सदैव के लिए जन्म–मृत्यु के आवागमन से मुक्त होकर अनन्त सुख तथा शान्ति की अधिकारी हो जाती है। अतः जीवभाव से मुक्ति ही हमारी समस्या है और इसका समाधान करने के लिए ही इन मार्गों का विधान किया गया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माया के गुणविकारों के आवरण को चित्तरूपी दर्पण से हटाना होगा।

भगवान् सब के प्रियतम हैं

यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण सब के परम प्रियतम हैं, वे आत्मा के भी आत्मा हैं, परम पति हैं। इस भाव से उनका भजन बन पड़े तो वह बहुत उच्च श्रेणी का है-इसमें जरा भी संदेह नहीं है; परंतु यह भाव है बहुत कठिन। यह भाव था गोपीजनों में। श्रीचैतन्य में भी था; पर अन्य लोगों में कहाँ, कितना, किसमें था, कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान् के परम प्रियतम और परम पति होते हुए भी जब तक 'निज-सुख' की इच्छा का लेश है, तब तक इस भाव से उनका भजन होना बहुत कठिन है। फिर आजकल के मनुष्य बहुत ही दुर्बल मन के हैं। भगवान् तथा भगवत्प्रेम के लिए ही वे इस तरह के मार्ग पर आते हैं, परंतु राग-द्वेषयुक्त तथा वश में न किये हुए मन-इन्द्रिय उन्हें भगवान् से हटाकर गंदे लौकिक भोगों में प्रवृत्त कर देते हैं। इसलिए भगवान् के नाम पर भी उन विषयों से अलग रहना ही निरापद है, जिनसे जरा भी वासना के जाग्रत् होने का डर हो।

दैवी ह्येषा गुणमयी

कृष्ण कुमार पाण्डेय, गोरखपुर

युग चक्र प्रणेता भगवान कृष्ण की त्रिगुण माया अर्थात् सत्व, रज, तम बड़ा अलौकिक गुणों से युक्त है। इसको जान पाना कठिन है। किंतु जिसने इसे कठिन कहा, वही इसकी गति जानने का समाधान भी बताया। यह भौतिक सत्य भी है। गुरु जिस प्रश्न को साधक के समक्ष उठाता है उसका समाधान भी उस समय करता है। जब वह असमर्थ हो जाता है। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि – ''जो निरन्तर मेरा चिन्तन करता है वह मेरी माया को जानकर संसार सागर से तर जाता है। यहाँ चिन्तन से तात्पर्य उस परमात्मा पर अपना सब कुछ समर्पित कर देना है। जिसमें कबीर की उक्ति ''सुरति करो मेरो सांइया'' की स्थिति बन जाय। साधक का चिन्तन स्वयं परमात्मा करने लगे। परमानन्द की ऐसी मनोवृत्ति बनेगी, तो स्वाभाविक है दुरत्यया माया से पार हो जाया जा सकता है।

गीता में भगवान ने अर्जुन को संबोधित करते हुए समस्त मानव जाति के उत्कर्ष के लिए सस्ता साधन बताया–

दैवी ह्येषां गुण मयी, मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्ति ते।।

अर्थात् हे अर्जुन मेरी माया बड़ी कठिन है। किंतु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं वे उस माया को पार कर जाते हैं। साधक की परीक्षा होती है। तब वह कल्याण का भागी हो सकता है।

जीव का मन विविध संकल्पों और विकल्पों वाला है। विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ चित्त में उठती रहती हैं। व्यक्ति का कर्म भी इन्हीं वृत्तियों के आधार पर होता रहता है। इस कलिकाल में जबकि चारों तरफ विषमता, विद्वेष आदि व्याप्त है तो यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति इससे अछूता रहे। कलिकाल में जन्म लेने वाला व्यक्ति कठिन संस्कारों से ग्रसित है। व्यक्ति का मन चंचल, वृत्तियाँ अशान्त तथा इन्द्रियाँ निरंकुश सी हैं। हम कदाचित सांसारिक व्यक्ति को देखकर अपने कार्य का निर्धारण करते हैं। जबकि यह न तो न्याय संगत है और न इसे तर्क संगत ही माना जा सकता है। क्योंकि हर व्यक्ति के अलग कर्म और संस्कार हैं। ऐसे में यह निर्धारण करना कि अमुक कर्म जो किसी व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है, मेरे लिए भी न्यायोचित होगा। यहीं व्यक्ति को सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। जिससे गुणमयी माया दुरत्यया न होने पावे। यद्यपि जीव की चंचल वृत्तियाँ कुवृत्तियों को आसानी से ग्रहण कर लेती हैं। मन गति के साथ अपना संबंध ऐसी वृत्तियों से स्थापित कर लेता है। बुद्धि उसमें सहायक

बन जाती है। व्यक्ति वहीं असफल हो जाता है। यही असफलता ही उसे हीन वृत्ति से ग्रसित कर देती है। इसीलिए भगवान ने कहा– **''ये प्रपद्यन्ते ते तरन्ति''**। आचार्य शंकर ने भी कहा कि–

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।

अर्थात् अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका, अनादि, अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति माया है। इसी से जगत की उत्पत्ति है। बुद्धिमान लोग इसके कार्य से इसका अनुमान लगाते है।

मेरे साधक भाईयो भगवान ने इस माया को दुरत्यया कहा है। फिर भी इसका परिहार करते हुए कहा कि जो मेरा चरण शरण ग्रहण करेगा। वह इसमें नहीं फँसेगा ऐसे में एक ही बात उचित दिखती है कि अपना चित्त अपने इष्ट में लगावें। कोई भी सांसारिक कर्म को अपना कर्म माने ही नहीं। क्यों‍ß यह संसार उसी परमात्मा का है। इसी संसार में हमने भी जन्म ले रखा है। तो हमारा क्‍ है? कुछ भी नहीं। यही भावना सदैव साधक के मन में रहना चाहिए। यदि ऐसी वृत्ति बनती है। तब समझना चाहिए कि माया से पार पाया जा सकता है। मन सदैव उसी प्रभु में लगा रहे। यदि कदाचित मन विचलित हो तो इसे अभ्यास और वैराग्य से वश में करके ईश्वर के शरणापन्न हो।

भारतीय दर्शन इसी बात का संकेत करते है कि व्यक्ति को माया से मुक्ति लिए हर प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य योनि इसके लिए सर्वश्रेष्ठ है। ऐसे में व्यक्ति यदि शास्त्रीय सिद्धान्त को स्वीकारा नहीं तो धिक्कार भी है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति को मनुष्य जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने के विभिन्न प्रकार की सूक्तियाँ है। ये हमें बताती है कि इस संसार में रहकर भी हम विरक्त भाव से माया से पार पा सकते है। अपने लौकिक जीवन की कठिनाईयों को झेलते हुए भी हम साधन पथ पर अग्रसर हो सकते है। सूक्तियाँ बताती है कि –**''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ मा गृधः कस्वसिद्धनम्''** अर्थात् इस संसार का त्यागपूर्वक जीवनयापन करना चाहिए। त्याग से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को जितने की आवश्यकता है उतने की किसी वस्तु को ग्रहण करें। अधिक की लालसा व्यक्ति के मन में तृष्णा को बढ़ाती है। तृष्णा पद्व नियंत्रण से ही व्यक्ति ईश्वर के शरणापन्न हो सकता है। भगवान ने कहा कि– जो मेरे आश्रय को ग्रहण करेगा वह ही मेरी माया से पार हो सकेगा। माया को छुड़ाना कलिकाल के प्राणियों के लिए कठिन दिखता है। क्योंकि हमारा परमार्थ भी स्वार्थ से ग्रसित रहता है। हम विपत्ति के समय तो ईश्वर को याद करते हैं किंतु जैसे ही उससे छुटकारा पाते हैं तो पुन: सब कुछ भूल जाते हैं। इसलिए जीवन में एकरूपता आवश्यक है। यह भी कुछ क्षण में ही सम्भव नहीं है। बल्कि निरंतर आत्मचिन्तन और मनन से सम्भव हो सकता है। वैसे इस दृश्य जगत में व्यक्ति अपने मन से कुछ भी नहीं कर पाता है। तुलसीदास जी ने इसी को

लक्ष्य करके कहा– होईहं जोई सो राम चरि राखा, को करि तर्क बढ़ावहीं शाखा।

संतों ने अपने अनुभव के माध्यम से हमें बहुत कुछ बताया किंतु हम समय रहते चेत नहीं पाते। क्योंकि हमारी चंचल वृत्तियाँ मन को उद्वेलित करती रहती हैं। जीव उसी में फँसता चला जाता है। उसको उसी में धीरे–धीरे आनन्द आने लगता है और वह अधोगामी होने लगता है। इसलिए जीव को सांसारिक कर्म को करते हुए सत्संग और स्वाध्याय से सत्य पथ की ओर अग्रसर होना चाहिए। व्यक्ति को अपने संकल्पों से क्षीण नहीं होना चाहिए। जब यह संसार ईश्वर का हम मान लेंगे, तो हमारा कोई कर्म इस संसार में हो ही नहीं सकता। यदि ऐसी वृत्ति रखे तो वह ईश्वर के प्रपन्न भी हो जायेगा तथा माया से पार हो जायेगा। ईश्वर के शरणापन्न होते ही सब कुछ सिद्ध हो जायेगा। अतएव निश्चिन्त भाव से यह जान लेना चाहिए कि वे परात्पर ब्रह्म सदैव हमारे साथ है। हम नट की कठपुतल के तरह से है। नट अर्थात् परमेश्वर जैसा वेश और कार्य चाहेगा वैसा ही हम तब तक करते रहेंगे जब तक वह हमें नचाता रहेगा। जीव उसके मनोवृत्ति के अनुसार नाचते रहेंगे। व्यक्ति धीरे–धीरे उस अलौकिक और अद्‌भुत त्रिगुणमयी माया से पार हो जायेगा।

जय जय जाह्नवि करुणापाङ्गे

देवि सुरश्वरि भगवति गङ्गे वित्रभुवनतारिणि तरलतरङ्गे।
शङ्करमौलिविहारिणि विमले मम मतिरास्तां तव पदकमले।।
पतितोद्धारिणि जाह्नवि गङ्गे खण्डितगिरिवरमण्डितभङ्गे।
भीष्मजजनि हे मुनिवरकन्ये पतितनिवारिणि त्रिभुवनधन्ये।।

हे देवि गङ्गे! तुम देवगण की ईश्वरी हो, हे भगवति! तुम त्रिभुवन को तारने वाली, विमल और तरल तरङ्गमयी तथा शङ्कर के मस्तक पर विहार करने वाली हो। हे मातः! तुम्हारे चरणकमलों में मेरी मति लगी रहे। हे पतितजनों का उद्धार करने वाली जह्नुमुनि गङ्गे! तुम्हारी तरङ्गे गिरिराज हिमालय को खण्डित करके बहती हुई सुशोभित होती हैं, तुम भीष्म की जननी और जह्नुमुनि की कन्या हो, पतितपावनी होने के कारण तुम त्रिभुवन में धन्य हो।

आश्रम समाचार

श्री गुरुदेव भगवान की जन्म शताब्दी धूमधाम से मनाई गई।

• श्री गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्र मोहन जी महाराज की जन्म शताब्दी श्री सिद्धगुफा तथा अन्य आश्रमों में धून धाम से मनाई गई। श्री सिद्ध गुफा में 19 सितम्बर से 28 सितम्बर तक दस दिवसीय कार्यक्रम रखा गया जिसमें अखण्ड संकीर्तन, पाँच दिन की रासलीला, सवाई ग्राम में श्री प्रभु जी एवं गुरुदेव की झांकी तथा अनेक संकीर्तन मण्डलियों द्वारा गुरु भक्ति से ओत–प्रोत भजनों का कार्यक्रम रखा गया। इस अवसर पर गुरुगीता के पाठ के साथ–साथ आचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी, डा. विजय सिंह, आन्ध्र प्रदेश से आये परम पूज्य नृसिंह योगी के सुपुत्र गुरु प्रसाद जी, राम बाबू तथा बहिन सीता देवी ने गुरु तत्व पर प्रकाश डाला। श्री गुरु प्रसाद जी पूरे परिवार सहित अन्य भक्तों के साथ सवाई धाम पहुँचे थे। उत्सव के दिनों में पूरे एत्मादपुर शहर तक लाईट एवं साऊण्ड की सुन्दर व्यवस्था थी। सारा शहर जगमगा रहा था। पूरे कार्यक्रम में खर्चे का सारा भार दिल्ली के उदारमना गुरुभाई श्री सूरज प्रकाश ने उठाया। वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

• दिल्ली के आर.के. पुरम सै. 4 में स्थित गुरुदेव के आश्रम में भी जन्म शताब्दी के मौके पर योग प्रचार के विभिन्न कार्यक्रम श्री ब्र. वेदराम जी की अध्यक्षता में रखा गया था। इन कार्यक्रमों का टी.वी. चैनलों में भी प्रसारण किया गया, जो योग प्रचार का एक अच्छा माध्यम रहा।

• श्री अलुपुर धाम में गुरुदेव के जन्म शताब्दी के अवसर पर बड़ा भव्य कार्यक्रम रखा गया। देश के कोने–कोने से गुरु भक्त आये। लगभग 10–12 हजार गुरुभक्त अपनी श्रद्धा सुमन चढ़ाने तथा पवित्र धाम के दर्शन को आये। कमेटी की ओर से सब प्रकार से बहुत ही सुन्दर व्यवस्था थी। इस प्रकार से यह गुरुदेव की जन्म शताब्दी का कार्यक्रम गुरुदेव के सभी आश्रमों व केन्द्रों में मनाया गया।

योग शास्त्र – श्रीमद्भगवद्गीता

योगाचार्य अमित कुमार मिश्र, शुक्लागंज (उन्नाव)

श्री गीता के रचयिता 'योग' के उपदेष्टा त्रिजगत् पावन अखिल ब्रह्माड नायक योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं। श्री गीता वही संदेश है जो महाभारत के महासमर में भगवान ने 'योगस्थ' होकर अर्थात् परमात्म चेतना में प्रतिष्ठित होकर दिया है। महात्मा अर्जुन के मोहरूपी अज्ञान जो कि आसक्ति तथा मोहग्रस्तता के कारण उत्पन्न हुआ तथा जो उसे कर्त्तव्य पथ से विचलित करता है उसे दूर करने तथा कर्त्तव्य बोध कराने के लिए भगवान ने योग संदेश दिया है।

सांख्य योग व कर्मयोग की दो धुरियों पर आधारित इस शास्त्र के माध्यम से 'कर्मणान्यासः इति कर्म सन्यासः' की चर्चा करते हुए जहाँ दैनिक जीवन में व्यक्ति के आचरण के बारे में तथा 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः' एवं 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' आदि उक्तियों से समर्पण योग के महात्म्य को बताया गया है।

गीता सुगीता कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृतः सृता।।

महा. भीष्म पर्व 43/1

जिसका गायन किया जा सके, ऐसा सुन्दर काव्य गीता है। इसके गायन व मनन करने के बाद हमें अन्य शास्त्रों के विस्तार में जाने की क्या आवश्यकता है। यह तो स्वयं पद्मनाभ भगवान विष्णु के मुख से निकली है।

गीता में सारे शास्त्रों का सार भरा हुआ है। जैसा कि महाभारत में वर्णित है—

सर्वशास्त्रमयी गीता—महा. भीष्म पर्व 43/2

गीता समस्त शास्त्रों, उपनिषदों, वेदों आदि का निचोड़ है। गीता ही एक ऐसा महाग्रंथ है जिसमें दर्शनशास्त्र, धर्म और नीति शास्त्र का एक अत्यन्त ही संतुलित समन्वय हुआ है। इसकी गणना स्मृतियों में भी होती है एवं परम्परा भी इसे कहते हैं।

'गीता' 18 पर्वों वाले वैशम्पायन व्यास द्वारा रचित महाभारत के भीष्म पर्व में स्थित है। इसके अठारहों अध्याय महाभारत के भीष्म पर्व के 23 से 40 तक के अध्याय में वर्णित हैं। महाभारत के 43 वें अध्याय के चौथे श्लोक में वैशम्पायन ने 'षट्शतानी ——— गानमुच्यते' में 620 भगवान श्रीकृष्ण द्वारा, 57 अर्जुन द्वारा, संजय कथित 67 तथा एक धृतराष्ट्र कथित इस प्रकार 745 श्लोक बताते हुए गीता की व्याख्या की है। जबकि आधुनिक समय में मात्र

700 श्लोक ही उपलब्ध हैं, 45 श्लोक उपलब्ध नहीं हैं।

गीता में कुल अठारह अध्याय हैं –

1. अर्जुनविषाद योग, 2. सांख्य योग, 3. कर्मयोग, 4. ज्ञानकर्मसन्यास योग, 5. कर्मसन्यास योग, 6. आत्मसंयम योग, 7. ज्ञान विज्ञान योग, 8. अक्षरब्रह्मयोग, 9. राजविधाराजगुह्ययोग, 10. विभूतियोग, 11. विश्वरूप दर्शन योग, 12. भक्तियोग, 13. क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विभाग योग, 14. गुणत्रयविभाग योग, 15. पुरुषोत्तम योग, 16. दैवासुरसम्पद्विभागयोग, 17. श्रद्धात्रयविभाग योग तथा 18. मोक्ष सन्यास योग।

गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में "ॐ तत्सदिति श्रीमद्——योग शास्त्रे——अध्याय:" आदि रूप में वर्णित है।

अतः योग शास्त्र इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। स्वयं वैशम्पायन श्री व्यास जी ने ही गीता को योग शास्त्र की संज्ञा दी है। गीता में योग के विषय में जितना कुछ कहा जा चुका है उतना किसी भी ग्रंथ में दुर्लभ है। गीता में योग के विविध मार्ग जैसे–ज्ञान योग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि का प्रतिपादन किया गया है। परंतु इनकी परिणति आत्मा–परमात्मा की एकता ही बतलाई गई है। यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य ने **'जीवात्मा परमात्मा संयोगो योगः'** के रूप में कही है।

हमारे और आपके हृदयाराध्य भगवान सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज जीवन पर्यन्त गीता के दो अध्याय का पाठ श्री महाप्रभु जी की आराधना के उपरान्त किया करते थे एवं क्लिष्ट योग को सरल शब्दों में हमें समझाया करते थे।

जिनका जीवन स्वयं योगमय है जो स्वयं 'योगस्थ' है उन प्रात: स्मरणीय योगावतारी स्वयं भू महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज व भगवान योग स्वरूप योग शिरोमणि सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के चरण कमलों में मैं बारम्बार प्रणाम करता हूं और यही कहता हूं–

त्रेता में प्रभु जी तारी अहिल्या,
द्वापर कुब्जा तारी।
कलियुग में प्रभुजी तारी रामरती,
अबकी हमारी बारी।।

‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात’

—: स्वामी विवेकानन्द :—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात – विज्ञाता को कैसे जानोगे? ज्ञाता को कोई जान नहीं सकता, क्योंकि यदि वह समझ में आने योग्य होता , तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता। और यदि तुम आइने में अपनी आँखों का बिम्ब देखो, तो तुम उन्हें अपनी आँखें नहीं कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे बिम्बमात्र हैं। अब बात यह है कि यदि यह आत्मा – यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षी मात्र हो , तो इससे क्या हुआ? यह हमारी तरह न चल फिर सकता है, न जीता है, न संसार का सम्भोग कर सकता है। यह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि जो साक्षी स्वरूप है, वह किस तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। ''हे हिन्दुओ, तुम सब साक्षी स्वरूप हो, इस मत से तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो'' – यह बात लोग कहा करते हैं। उनकी इस बात का उत्तर यह है, 'जो साक्षी स्वरूप है, वही वास्तव में आनन्दोपभोग कर सकता है।' अगर कहीं कुश्ती लड़ी जाती है तो अधिक आनन्द किन्हें मिलता है? – जो कुश्ती लड़ रहे हैं उन्हें या जो दर्शक हैं उन्हें?

इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षी स्वरूप हो सकोगे उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व ब्रह्मांड के साक्षी स्वरूप हो सको। तभी मुक्त पुरुष हो सकोगे। जो साक्षी स्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा–स्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षी स्वरूप है, आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नहीं। अद्वैतवाद के नैतिक भाग की विवेचना करते समय उसके दार्शनिक तथा नैतिक भाग के अन्तर्गत एक और विषय आ जाता है, वह मायावाद है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक एक विषय के समझने में ही वर्षों लग जाते हैं और व्याख्या करने में महीनों लग जाते हैं, इसलिए इसका मैं उल्लेख मात्र ही करूँगा। इस मायावाद को समझना सभी युगों में बड़ा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है – और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम–रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही हैं, तरंगें विलीन हो जा सकती हैं, और तरंग में जो नाम रूप है, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायें, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओं और मनुष्यों में भेदभाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायें, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायेगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही माया है। और फिर यह कोई सिद्धान्त भी नहीं है, केवल तथ्यों का कथन मात्र है।

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

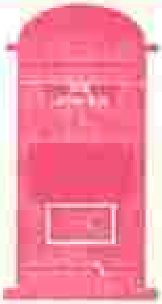

उत्पाद (ब्राण्ड) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक वस्तुओं पर स्पेशल आवरण (विशेष लिफाफा) का विज्ञापन
2. लैटर बॉक्सों पर स्थान का प्रायोजन (स्पॉन्सरशिप)
3. मेल वाहनों पर स्थान का प्रायोजन (स्पॉन्सरशिप) दर : रु. 1000 प्रति पैनल प्रतिमाह पेन्टिंग चार्ज रु. 500.00 प्रति पैनल
4. डाकघर परिसर में होर्डिंग लगाकर विज्ञापन दर रु. 5.50 प्रति वर्ग फीट प्रतिमाह
5. डाकघर के अन्दर या बाहर ग्लोसाइन बोर्ड अथवा पोस्टर लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति वर्ग फुट प्रति माह
6. डाकघर के मार्गों पर स्थायी कैंसिलेशन की डाई लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति डाई प्रतिदिन डाई का मूल्य रु. 400/-
7. मेघदूत पोस्ट कार्ड के माध्यम से विज्ञापन अर्थात् पोस्ट कार्ड के आधे भाग पर उत्पादों का विज्ञापन : दर रु. 2/- प्रति पोस्ट कार्ड। मेघदूत पोस्ट कार्ड का विक्रय मूल्य केवल 25 पैसे मात्र।

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग विज्ञानों का परिचायक
अध्यात्म का सच्चा मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सचाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/2009-11

November 2009

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सचाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा